श्रीपातञ्जलयोगदर्शन

(रहस्यचन्द्रिका टीकासहित)



सच्चित्तीर्थ


महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी
पु०सं० 2839
भारती पुस्तकालय





श्रीपातञ्जलयोगदर्शन

(रहस्यचन्द्रिका टीकासहित)

व्याख्याता

श्री दण्डिस्वामी सच्चित्तीर्थः

दण्डी आश्रम, शुक्रताल

मुजफ्फरनगर, उ० प्र०



शरत् पूर्णिमा संवत् २०५५

प्रकाशक –
श्री श्री निगमानन्द विद्या निकेतन
बी. २/१६० - सी - १ बी, भदैनी
वाराणसी २२१००१ (उ. प्र.)

प्रथम संस्करण

मूल्य – पचीस रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान –

१. प्रकाशक (मुख्य परिवेशक)

२. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, बंगलो रोड, दिल्ली – ११००२७

३. चौखम्बा विद्या भवन, चौक, वाराणसी (उ.प्र.) २२१००१

४. चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, के ३७/९९ गोयल मन्दिर लेन, वाराणसी (उ.प्र.) २२१००१

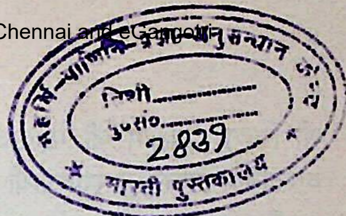
५. धार्मिक पुस्तकालय, विश्राम बाजार, मथुरा (उ.प्र.)

६. सर्वोदय बुक स्टाल, हावड़ा स्टेशन, हावड़ा (उ.प्र.)

७. अम्बिका पुस्तक सदन, शंकर आश्रम, पो. ज्वालापुर, जि. हरिद्वार

८. शिवानन्द एम्पोरियम, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उ.प्र.)

मुद्रक –डिवाइन प्रिंटर्स
बी. १३/४४, सोनारपुरा, वाराणसी
फोन : (०५४२) ३२१३७१



निवेदन

भारतीय दर्शन जगत में "**पातञ्जल योग दर्शन**" एक महत्वपूर्ण स्थान अधिकार किया है। भगवान शङ्कराचार्य महाराज 'एतेन योगः प्रत्युक्ते' (ब्र. सू.) सूत्र में योग दर्शन के सिद्धान्तांश का खण्डन करने पर भी साधनांशका निराकारण कथमपि नहीं किये। कारण वेदान्त सिद्धान्तानुसार ब्रह्माकाराकारिता चित्त वृत्ति के लिए देह-इन्द्रिय-प्राण का जो संयम की आवश्यकता है, वह योग दर्शन के अनुशीलन से ही सम्भव है। वेदान्त के अधिकारी लक्षण के अन्तर्गत 'समाधान' रूप साधन सम्पत्ति योग दर्शनोक्त समाधि का ही नामान्तर है। इसलिये योग साधना के बिना ज्ञाननिष्ठा बालू का दीवार है। अनुरूप प्रत्येक आस्तिक दर्शनानुगामी तथा अध्यात्मपिपासु अपने साधन मार्ग में अग्रसर होने के लिए **पातञ्जल योग दर्शन** का किसी न किसी रूप से अनुसरण करते ही हैं।

यह दर्शन अत्यन्त प्राचीन तथा इसके ऊपर संस्कृत सहित अनेकानेक भाषाओं में टीकाएँ उपलब्ध हैं। परमश्रद्धेय ब्रह्मलीन दण्डिस्वामी श्री सच्चित्तीर्थजी इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाओं के अध्ययन-मनन करके अपने अनुभव के आधार पर एक टीका की रचना की। जिससे साधक बहुटीकाओं के जङ्गल में न भटक कर इस भाषाटीका के माध्यम से उपकृत हो सकें।

दण्डिस्वामी श्री सच्चित्तीर्थजी बङ्गदेश (वर्तमान बाङ्ला देश) में एक सम्भ्रान्त परिवार में जन्म लिये थे। वे बचपन से ही पितृमातृभक्त तथा सात्विक विचारधारा के रहे। भारत के स्वाधीनता संग्राम में काफी सक्रिय थे, उनकी भूमिका भी विलक्षण थी। वे सीधा सक्रिय भूमिका में न रहते हुए भी क्रान्तिकारी पुस्तक एवं क्रान्तिकारी विचारधारा द्वारा युवकों को संग्रामी बनाते थे। कॉलेज की शिक्षा समाप्त कर उन्होंने संन्यास जीवन स्वीकार किया। कैलाश आश्रम, ऋषिकेश से महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विष्णुदेवानन्द गिरिजी से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर संस्कृत-दर्शन आदि शास्त्रों का गंभीर अध्ययन किया तथा विभिन्न तीर्थ एवं सिद्ध महापुरुषों के सान्निध्य में रहकर बहुत सिद्धियाँ भी प्राप्त किया। फिर कैलाशाश्रम से वैमनस्य के कारण उन्होंने शृङ्गेरी मठ जाकर दण्डग्रहण किये तथा योगपट हुआ दण्डिस्वामी सच्चित्तीर्थ। वे अपना अन्तिम जीवन दण्डि आश्रम शुक्रताल (मुजफ्फर नगर) उ.प्र. में उस स्थान के अधिष्ठाता दण्डिस्वामी

श्री विष्णु आश्रम जी महाराज के अनुग्रह से व्यतीत किये। उनका जीवन वास्तविक निष्कलङ्क स्वाध्यायी सच्चे संन्यासी का जीवन रहा। अन्त में पिछले महाशिवरात्र के पूर्व काशीधाम (उ.प्र.) में शरीर त्याग करने आ गये तथा गत गङ्गादशहरा के दूसरे दिन एकदशी को स्थूल शरीर त्यागकर अपने साधनोचित धाम को प्रस्थान किये। वे अपने जीवन में किसी भी भौतिक वस्तु का न संग्रह किये, न संग्रह की आशा ही रखे। वास्तव में कहें तो वे थे एक सच्चे संन्यासी।

शुक्रताल निवास काल में ही उनके सम्पर्क में मैं आया। मुझे तो उनसे बहुत ही अहेतुक स्नेह प्राप्त हुआ। कई पुस्तक विभिन्न संस्थाओं के द्वारा प्रकाशित हुआ। वे वङ्गभाषी थे तथा हिन्दी में अधिक अभ्यास न रहने से भाषागत दृष्टि से बहुत ही अशुद्ध रहा। पर उनके अनुरोध से जहाँ तक सम्भव हुआ संशोधन करने की चेष्टा की गई। इसी प्रकार कुछ माह पूर्व उनके द्वारा रचित वेदान्त रहस्य चिन्तामणि प्रकाशित हुआ। वे जब काशी आये तो यह योगदर्शन की पाण्डुलिपि देकर मुझसे अनुरोध किये – "इसे छपाने का दायित्व ले लो तो मैं निश्चिन्त होकर शरीर छोड़ूँ" जहाँ तक कम्पोज हुआ था वह प्रूफ तत्काल ही दिखाया तथा प्रेस संचालक श्री महेश कुमार भी इस इच्छा को पूर्ण करने के वचन दिये। शीघ्र ही पुस्तक कम्पोज हुआ, पर अशुद्धि बाहुल्य होने से सम्पादन काफी करने पड़े, जिससे विलम्ब हुआ और मुद्रित पुस्तक उन्हें दे नहीं सका।

इस पुस्तक के प्रकाशन में सर्वदा दान तत्पर परमभक्त श्री परमेश्वर दयालजी (मुजफ्फर नगर) का आर्थिक सहयोग अविस्मरणीय तथा डिवाइन प्रिण्टर्स के मालिक श्री महेश कुमार के हर प्रकार का सहयोग सराहनीय है। वृन्दावन विहारीलालजी के निकट उनके उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि के लिये प्रार्थना कर रहा हूँ।

श्री गुरुचरणाश्रित
स्वामी प्रज्ञानानन्द

आनन्द वृन्दावन, वृन्दावन
जन्माष्टमी, २०५५

प्रस्तावना

ॐ ! प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में योगसाधना का विशेष उत्कर्ष दिखाई दे रहा है । योगपथ के बहुत से भेद इस देश में प्रचलित थे एवं अब भी गुप्त रूप से कुछ-कुछ वर्तमान हैं । जैसे गीताजी में ही अष्टादश योग बताये गये हैं । इसके अतिरिक्त हठयोग-लययोग-मंत्रयोग-राजयोग-महायोग-अष्टाङ्गयोग-षष्ठाङ्गयोगादि के भी बहुत प्रकार हैं । किन्तु साधारण जिज्ञासु के लिए उस गुप्त साधनमार्ग का पता पाना अत्यन्त कठिन है । योग का श्रेणी-विभाग विभिन्न दृष्टिकोणों से विविध प्रकार से किया जाता है । सन्तों में कुछ लोग योगमार्ग को दो भागों में विभक्त किये हैं । उनमें से एक का नाम पिपीलिका मार्ग तथा दूसरे का नाम विहंगम मार्ग है । इनमें हठयोगादि पिपीलिका मार्ग और सिद्धमहायोगादि विहंगम मार्ग । इन दो प्रकार के योगों के आपेक्षिक उत्कर्ष का विचार करने पर यह अवश्य ही कहना पड़ेगा कि पिपीलिका योग की अपेक्षा विहंगमयोग श्रेष्ठ है । किन्तु साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि अधिकार के तारतम्य के अनुसार, योग के आपेक्षिक उत्कर्ष का निरूपण होता है। विहंगमयोग श्रेष्ठ होने पर भी पिपीलिका योग के अधिकारी के लिए वह उपादेय नहीं है । वैसे ही पिपीलिका योग अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी में गिने जाने पर भी साधारण अधिकार वाले योगाभ्यासी के लिए वही श्रेष्ठ है । साधारणतः जो राजयोग (पातञ्जल- अष्टांगयोग) कहा जाता है, वह पिपीलिका योग का ही एक भेदमात्र है । प्रक्रिया में आसन, प्राणायाम, मुद्रादि सहायक होते हैं एवं सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर और उसे जाग्रत् शक्ति के द्वारा मनुष्य देह में स्थित षट्चक्र नामक छः शक्ति केन्द्रों का भेदन कर ऊपर उत्थित होना पड़ता है । उसके बाद सहस्रार में पहुँचने के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है । सहस्रारं में स्थिति प्राप्त होने पर योगी लक्ष्य स्थान में उपस्थित होने के कारण अपने को कृतकृत्य मानता है । पिण्ड से ब्रह्माण्ड में प्रवेश करना ही इस योग का उद्देश्य है । आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित विन्दु को भेद करके ही पिण्ड अर्थात् व्यष्टिदेह से ब्रह्माण्ड में अर्थात् समष्टिदेह में प्रवेश करना होता है । किन्तु विहंगमयोग नाना कारणों से ही पूर्वोक्त योग से महत्तर है । अधिकांश संत अपने साधन जीवन में इसी का अनुष्ठान कर गये हैं । पिपीलिकाभूमिका अवलम्बन कर साधक शनैः शनैः अग्रसर होता है । किन्तु विहंगम अथवा पक्षि भूमि का अवलम्बन न कर निरालम्ब आकाश मार्ग में मन की मौज से स्वेच्छानुसार अग्रसर होता है । एक सन्त ने कहा है —

'विहंगम चढ़िगयउ आकासा, बैठिगगन चढ़ि देखु तमासा ।'

योगी जब शून्य गगन में विचरण करता है और निरन्तर अमृतपान करता है, तब इस क्षुद्र देहपिण्ड के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं रहता । उस अवस्था में योगी की

दृष्टि अष्टदलकमल में स्थित सूई के बराबर सूक्ष्मद्वार का भेदन कर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है और त्रिवेणी में स्नान कर ऊपर को उत्थित होती है। इसके अनन्तर यथासमय भ्रमरगुहा में प्रवेश होता है। इस गुहा में निरन्तर शब्द का गुञ्जन होता रहता है। भाँति-भाँति के दिव्य रूप और दिव्य गन्ध वहाँ सदा ही प्राप्त होता रहता है। इस अवस्था में कुछ दिन व्यतीत होने पर ही साधक योगी को अलौकिक और निर्मल दर्शनशक्ति प्राप्त होती है। इसका नाम दिव्यदृष्टि लाभ है।

भ्रमरगुहा से सत्यराज्य में प्रवेश करना अत्यन्त सहज है। सत्यराज्य में सत्य स्वरूप निराकार चिन्मय पुरुष निवास करते हैं। उद्यमशील योगी सत्यराज्य में भी अपने को बाँधे नहीं रखते क्योंकि सत्यराज्य का भी एक परावस्था है। सत्यराज्य में बात कही जाती है एवं बात सुनी जाती है। यद्यपि यह बात निःशब्द वाणीमात्र है एवं वहाँ मिथ्या का तनिक भी स्रोत नहीं है, तथापि सत्यराज्य के ऊपर शब्द की गति नहीं है। उस शब्दहीन राज्य से एक ऊपरी केंद्र में ऊर्ध्वप्रवाह के कारण आरोहण हो जाता है। उस स्थान में जाना अत्यन्त कठिन है। कुछ लोग उसका "अगमलोक" नाम से वर्णन करते हैं। साधक उस स्थान में उपस्थित होकर परमानन्द का सम्भोग करता है। यही अद्वैत स्थिति है कि नहीं ?

राजयोग अत्यन्त जटिल और कठिन है एवं अनेक के लिए उसे तो स्वायत्त करना सम्भव नहीं। किन्तु विहंगम योग इतना सहज है कि सरलता के कारण किसी-किसी सन्त ने उसका सहज योग नाम रख छोड़ा है। पिपीलिका योग के द्वारा योगी अपनी देह को स्वायत्त कर सकता है, यह सत्य है, किन्तु यदि आत्मा को स्वायत्त करना हो, तो और भी कुछ आवश्यक होता है। केवल प्राणायामादि साधन उस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए पर्याप्त नहीं है।

मनुष्य विचित्र अधिकार रखता है, इसलिए उसकी साधन प्रणाली में भी एक समन्वय का भाव रहना वांछनीय है। सन्त लोग कहते हैं कि यदि स्थूलदृष्टि से देखा जाय तो दोनों पथों का सामञ्जस्य आवश्यक होता है।

षट्चक्र की क्रिया द्वारा अष्टदल कमल की गुत्थी खुलती नहीं और अष्टदल कमल की साधना में यदि प्रवेश न हो सके, तो आत्मसिद्धि की अनुकूल साधना यथार्थ रूप में अनुष्ठित नहीं हो सकती।

यद्यपि विहंगम योग श्रेष्ठ है, तथापि सन्त लोग दोनों मार्ग के समन्वय के पक्षपाती हैं। विहंगम योग के साथ पिपीलिका योग के मिलन के निमित्त योगी के लिए चतुर्दश तत्त्वों का अनुशीलन उपयोगी माना गया है। इन चतुर्दश तत्त्वों में कुछ चक्र के स्वरूप और शेष अष्टदल कमलदल स्वरूप हैं। नवद्वार और पंचतत्त्व के योग से जो चौदह संख्या प्राप्त होता है, वह भी इस समन्वय साधना में अपेक्षित तत्त्वों के

अन्तर्गत है ।

किसी सन्त का कथन है कि "सुरति" और "निरति" इन दोनों का समन्वय कर सकने पर ही योग साधना सिद्ध होती है । "सुरति" से असाधारण दृष्टिशक्ति कही गई है । इस दृष्टि के खुलने पर भाँति-भाँति के सुन्दर दृश्य और शब्दों का अनुभव होता है । "निरति" से निर्विकल्पक ध्यान का बोध होता है । इसमें दृश्यभान बिल्कुल नहीं रहता । योग-क्रिया लौकिक मन्थन क्रिया के ही तुल्य है । जैसे एक ही मन्थन क्रिया में दो जोड़ आवश्यक होता है, जिनके द्वारा बर्तन में दही का मन्थन कर घृत निकाला जाता है, वैसे ही इस शरीर रूपी बर्तन में यदि योग क्रिया रूप मन्थन कार्य करना हो, तो सुरति और निरति इन दो क्रियाओं का अनुष्ठान आवश्यक है । सुरति और निरति क्रियाओं का अनुष्ठान होने पर स्थिरता रूप घृत की प्राप्ति अवश्य ही होती है । इसलिए निरतिहीन अर्थात् निर्विकल्प ध्यान रहित शुद्ध सुरति जैसे सिद्धि रूप में उपयोगी नहीं होती, वैसे ही असाधारण दृष्टि रूप सुरति रहित शुद्ध निरति अर्थात् निर्विकल्प ध्यान भी उपयोगी नहीं होता । दोनों का सामञ्जस्य होने से ही योगी इष्टसाधन में सफलता प्राप्त करते हैं ।

विहंगम योग में वंकनाल का स्थान अति उच्च है । हठयोग, राजयोग में मेरुदण्ड की प्रधानता जैसा सर्वसम्मत है, ध्यानयोग में ठीक वैसे ही वंकनाल का प्रभाव योगिसमाज में प्रसिद्ध है । वंकनाल एक विशेष नाड़ी का नाम है । यह मूलाधार से निकलकर नाभि की बाईं ओर से ऊपर चढ़कर हृदय और वक्षस्थल का स्पर्श करती हुई आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि में मिल जाती है । उसके बाद रुद्रग्रन्थि से निकल कर आगे बढ़ते-बढ़ते क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है । तदुपरान्त मस्तक के पीछे की ओर कुछ लटकती हुई फिर ऊपर की ओर बढ़ती है । इस जगह यह नाड़ी अर्धचन्द्राकार दिखाई देती है । इसी स्थान पर यह वंकनाल के नाम से परिचित है । तदनन्तर यह धुँधले मण्डल को पारकर महाशून्य की छोर पर भ्रमरगुहा में प्रवेश करती है । भ्रमरगुहा सत्यराज्य का द्वार है ।

भ्रमरगुहा में दृश्य कुछ भी नहीं है । वास्तव में यह शून्यस्थान है इसलिए इसे गुहा कहा जाता है । यहीं से योगी विशुद्ध शब्द (प्रणव) सुन पाते हैं । इस शब्द के प्रभाव से सत्यराज्य में प्रवेश का मार्ग खुल जाता है । यह शब्द-श्रवण ही योगियों में सुप्रसिद्ध नादानुसन्धान की ही एक अवस्था है । सन्त कहते हैं, आगम और निगम में भी सर्वत्र यह उपदिष्ट है कि ब्रह्मस्वरूप इस शब्द से ही समग्र विश्व की सृष्टि हुई है। आकाश, भूलोक और पाताल इसी से उत्पन्न हैं । शून्य मण्डल में जो शब्द सुन पड़ता है एवं जिसे शब्द का आलय कहा जाता है, वह ब्रह्माण्डातीत भ्रमरगुहा के अन्तर्गत है। सुरति, निरति, मन और प्राण इन चारों की एकाग्रता होने पर शब्द सुन पड़ता है ।

ध्वनि से शब्द की उत्पत्ति होती है, एवं फिर ध्वनि में शब्द लीन हो जाता है। सद्गुरु अथवा सत्पुरुष के साकार रूप को ही सन्तजन "ध्वनि" कहते हैं। दो श्वासों के परस्पर आघात से शब्द की अभिव्यक्ति होती है। एवं एकाग्रता के कारण वह सुन पड़ता है। शब्द श्रवण के प्रभा से मन नियन्त्रित होता है और अपने को सत्पुरुष (आत्मा) में निमग्न किया जा सकता है। उस शब्द का उच्चारण नहीं होता, इसलिए वह अजपा स्वरूप है। वस्तुतः शून्य से उत्पन्न होता है, इसलिए वह अनहद् या अनाहत शब्द कहा जाता है। उस शब्द को सुनना ही योगी का मुख्य लक्ष्य है। वह सत्पुरुष (आत्मा) के साक्षात्कार या तादात्म्य का प्रतीक है।

पिपीलिका योग का लक्ष्य से विहंगम योग का लक्ष्य बहुत ऊँचा है; कारण सत्यराज्य भ्रमरगुहा के अतीत है, और भ्रमरगुहा महाशून्य के दूसरे छोर पर स्थित है। सत्यराज्य तो बहुत दूर की बात है, महाशून्य और भ्रमरगुहा भी ब्रह्माण्ड के अतीत हैं, किन्तु सहस्त्रदल कमल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत है। विहंगम योग मुख्यतः इस शब्दब्रह्म के सहारे ही अनुष्ठित होता है। शब्द आकाश का धर्म है। शुद्ध चैतन्यमय आकाश के धर्म चिन्मय शब्द का आश्रय लेकर सत्यराज्य में प्रवेश करना होता है। तब "सोऽहं" बोध होता है। इस योग के अनुष्ठान में चक्र भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। किन्तु जो लोग निरालम्ब अवस्था का अवलम्बन नहीं कर सकते, एवं जिनमें एकाग्रता नहीं, उनके लिए इस मार्ग का अवलम्बन करना सम्भव नहीं है। पर एक बार शब्द के जाग जाने अथवा सत्पुरुष की कृपा से शब्द का सन्धान पा सकने पर फिर, कुछ भी असुविधा नहीं रहती। पिपीलिका मार्ग में क्रम है, कारण वह अवलम्बन है। इसलिए वहाँ एक का त्यागकर किसी दूसरे का ग्रहण किया जाता है। किन्तु विहंगम मार्ग में वास्तव में कोई क्रम नहीं है, क्योंकि चलने का मार्ग शून्य का मध्य है। मार्ग में विश्राम स्थान न होने से विहंगम मार्ग अक्रम है॥



ॐ

योगदर्शन

प्रथम समाधिपाद

श्रीभगवानकी ईक्षण से रचित माया, माया से रचित यह संसरणशील, भ्रमणशील संसार को स्थिर मानने वाले अज्ञानी जीव संसार चक्र में जन्म-मृत्यु रूप चक्की के पिशन से पिष्ट होता हुआ भी रहट जैसे ऊपर-नीचे अर्थात् देवशरीर से लेकर स्थावर जंगमादि शरीरों के भ्रमण में ही रमणरसिक लोग स्थूल, सूक्ष्म, कारण रूप संघातों में आविर्भाव तिरोभाव लक्षण से समस्त जन्य पदार्थों को अपने से अभिन्न मानता हुआ अपने सच्चे स्वरूप को भूल गया और सत्त्व-रज-तम त्रिगुणात्मिका माया जिसका स्वरूप – अन्धकार; अविद्या, अज्ञान, अजा आदि नामों से कहा जाता है और उसका अपना असाधारण धर्म सुख-दुःख-मोहात्मक है, उसका मोहजालों में फँसा हुआ भी अपने को बन्धनहीन मानकर आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापत्रय से सन्तप्तमान अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशात्मक पंचक्लेश से पीड़ित जीवों का किस प्रकार से अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति हो, ऐसा विचार कर भगवान योगीन्द्र 'पतंजलि' महामुनि मुमुक्षुओं का अभिलषित तत्त्वज्ञान, विषयवैराग्यसमन्वित अष्टांगयोगधर्मात्मक साध्य और साधन रूप योगशास्त्र को सूत्र रूप से रचना किया।

अथ योगानुशासनम् ।। १ ।।

निर्विघ्नग्रन्थ परिसमाप्ति निमित्त योग प्रवर्तक विश्वाधार अनन्त भगवान् लोकहितार्थ पतञ्जलिरूप से अवतीर्ण होता हुआ, जो योगशास्त्र का अनुकर्ता है, शिष्यवर्गका शास्त्रग्रहणमें और अनुष्ठान करने में प्रतिबन्ध न हो, तन्निमित्त शास्त्र आरम्भ करते हैं– अथ इति । अथ शब्द आरम्भ अर्थ में है, न कि 'ब्रह्मसूत्र या मीमांसासूत्र जैसा आनन्तर्यार्थ में ।' अथ शब्द यहाँ मांगलिकार्थ भी हो सकता है— 'ॐ कारश्चाथशब्दश्च निःश्रेयश्चकरावुभाविति' = ॐकार और अथ शब्द उभय ही निःश्रेयस्कर है । योग शब्द समाधि अर्थ में (युज् = समाधौ) न कि संयोगार्थ में (युजिर योगे) । समाधि क्या है? यावत् चित्तवृत्तियों का निरोध, उसका अनुशासन = शिष्ट का शासन । कैसे परमात्मा द्वारा परम्परा से हिरण्यगर्भ द्वारा प्राप्त इस योगशास्त्र का प्रतिपादन भगवान् पतञ्जलि कर रहे हैं "हिरण्यगर्भ योगस्थवक्ता नान्यः पुरातनः" इति हिरण्यगर्भ ही योग का वक्ता दूसरा और कोई नहीं । चित्तवृत्ति का निरोध कैसे ? सार्वभौम = वक्ष्यमाणक्षिप्तादि सब

अवस्थाओं में साधारण चित्त का धर्म चित्त की भूमि = सहज अवस्था, अर्थात् संस्कारवशतः जिस अवस्था में प्रायशः रहते हैं, वही चित्त की भूमि है । वे कौन-कौन क्षिप्ता, मूढ़ा, विक्षिप्ता, एकाग्रा और निरोध नामक पाँच भूमियाँ हैं ।

१. क्षिप्ता– सर्वदा रजोगुण के प्रभाव से नाना विषयों में आकर्षित होकर सर्वदा अस्थिर-क्षिप्ता भूमि ।
२. मूढ़ा– क्षिप्ता भूमि में भी प्रबल रागादिवशातः चित्त का जो मोहवश मूढ़ावस्था या तमोवृत्ति के सम्यक् उदय से निद्रा आलस्यादि – मूढ़ावस्था ।
३. विक्षिप्ता– क्षिप्त से विशिष्ट अर्थात् सत्वाधिक्यवशात् समाधि अभ्यास काल में रजोगुण द्वारा आकर्षित होकर बीच-बीच में विषयान्तरों में चले जाने वाली वृत्ति– विक्षिप्तावस्था । कदाचित् स्थायी वृत्ति । इन तीनों भूमियों में चित्त विक्षिप्त रहने के नाते समाधिरूप योग हो नहीं पाता इस कारण से वे योग के लक्ष्य नहीं हैं ।
४. एकाग्रा = अभीष्ट विषयों में सर्वदा स्थितिशीला चित्तावस्था ही एकाग्र भूमि है, अर्थात् एक ही विषय में अग्र = शिखा जिस चित्तरूप दीपक का, अर्थात् शुद्ध सत्त्वरूप होने से एक ही विषय में, पहले से सुनिश्चित काल तक वायुहीन स्थान में दीपक जैसा अचंचलता – एकाग्रता ।

एकाग्र भूमि का रूप चित्त में उत्पन्न समाधि सद्भूत अर्थ अर्थात् पारमार्थिक तत्त्व को प्रकृष्ट रूप से साक्षात् कराते हैं, उस प्रज्ञा द्वारा हानोपादान विषय में अव्यर्थ अध्यवसाय उत्पन्न करते हैं, और चित्त में तत्त्वज्ञान के उपस्थित रहने से अविद्यादि पंचक्लेशों के क्षय हो जाते हैं । उससे कारण का उच्छेद होने पर धर्माधर्मरूप बुद्धि और पुरुष के बन्धन समूहों शिथिल करते हैं अर्थात् कर्म द्वारा अदृष्ट उत्पादन में अक्षम कर देता है और निरोध रूप असम्प्रज्ञात योग अर्थात् सब प्रकार की वृत्तिहीनता के अभिमुख प्रत्यासन्न कर देता है । सम्प्रज्ञात योग अर्थात् ध्येय वस्तु पर वैराग्य उत्पादन करके सम्यक् रूप से साक्षात्कार करा देते हैं, इसलिए सम्प्रज्ञात कहा गया ।

सम्प्रज्ञात भी चार प्रकार – वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत । इनका व्याख्यान आगे होगा । इन चारों प्रकार के सम्यग् ज्ञान का निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि में रजस्तमोमयी प्रमाणमूलक वृत्तियों को सात्त्विक वृत्ति द्वारा निरोध करके असम्प्रज्ञात में सम्यग् ज्ञान का भी निरोध होने से असम्प्रज्ञात कहा जाता है ।। १ ।। इसके बाद लक्षण स्वरूप द्वितीय सूत्र का अवतरण करते हैं -

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। २ ।।

राजसिक, तामसिक बुद्धिवृत्तियाँ – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नाम से कथित उनका स्वकारण बुद्धितत्त्व का आत्यन्तिक लय ही "योग" है ।

निरोध= स्वकारणे लय । यदि कहे सम्प्रज्ञात योग में इस लक्षण की व्याप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वहाँ सात्त्विकी तत्त्वज्ञानरूपा चित्तवृत्ति तो रह जाती है, तब कहते हैं – अन्य राजसी-तामसी वृत्ति समूह का निरोध हो जाता है और तत्त्वज्ञानरूपा वृत्ति प्रख्या = प्रकाश स्वरूपा या प्रकाशाधिका होने से सम्प्रज्ञात भी योगरूप ही है, क्योंकि वहाँ सत्त्वगुण विशिष्ट होने से चित्त का विक्षेप कथंचित् रह जाने पर भी थोड़े समय के लिये राजस्‌गुण द्वारा आकर्षित होकर अणिमा आदि ऐश्वर्य को ही तत्त्व रूप से मान लेता है और उसको प्रिय मानकर ध्यान करता है तथा जब सम्प्रज्ञात में तमो वृत्तिका उदय होता है तब अधर्म-अज्ञान-वैराग्यहीन ऐश्वर्य के तरफ़ मन चला जाता है । परन्तु चित्त में सत्त्व विशेष होने से सत्त्वाभिभूत मोहरूप आवरण सत्त्वाधिक्य रजोगुण द्वारा आकर्षित होकर धर्म-ज्ञान-वैराग्य मूलक ऐश्वर्यादि प्राप्ति की इच्छा करते हैं । इस प्रकार धर्मज्ञानादि के अभ्यास से रजोरूप किंचित् मल भी जब प्रक्षीण हो जाता है, तब चित्तरूप दर्पण सर्वतोरूप से निर्मल हो जाने से स्वरूपप्रतिष्ठारूप सत्त्व पुरुषान्यताख्यातिमात्र धर्ममेघरूप परम ध्यान, प्रसंख्यान नामक तत्त्वज्ञान ही विवेकख्याति रूप से उदय होता है, उसी को योगीलोग पराकाष्ठा मानते हैं ।

बुद्धि और पुरुष का विवेक दिखा रहे हैं – चितिशक्ति-पुरुषचैतन्य अपरिणामिनी = सर्वतोरूप से विकारहीना, अप्रतिसङ्क्रमा = कार्योत्पन्न करने में प्रति संचारहीना अर्थात् चितिशक्ति का धर्मलक्षण अवस्थालक्षण परिणाम हो, जिससे क्रिया रूप से परिणत होकर बुद्धि के साथ परिणाम प्राप्त हो । शुद्ध = सुख-दुःख, मोह ही अशुद्धि है । इस कारण से विवेकी लोग सुख और मोह को भी दुःख रूप मान कर त्याग देते हैं । अनन्ता = अतिसुन्दर वस्तु भी अन्त वाली है इस कारण दुःखदायी है, इसलिए त्याग देते हैं। दर्शित विषया = शब्दादि विषय को जिस बुद्धि ने दिखाया करती थी, यदि चिति शक्ति बुद्धि के साथ तादात्म्य भाव से मिली होती, किन्तु उस बुद्धि ही अभी जिसका विषय है, इसलिए कहा – दर्शित विषया ।

यह विवेक ख्याति भी सत्त्वगुणात्मक वृत्तिरूप ही है; क्योंकि सत्त्व प्रकाशशील होने पर भी चित्त का अवभास रूप ग्रहणयोग्य है, स्वप्रकाश नहीं, इस कारण यह भी हेय है । इसलिए अन्यान्य वृत्तियाँ दोष बहुत होने से वे हेय अवश्य ही होंगी, इसमें कहना क्या । सुतरां ज्ञान के प्रसाद से पर वैराग्य द्वारा विवेकख्याति का भी निरोध करते हैं । इस प्रकार चित्त संस्कारमात्र शेष प्रत्ययहीन होता है, निरोध भङ्ग होने पर व्युत्थान संस्कार रह जाता है । निरोध का स्वरूप बताते हैं, वह निर्बीज समाधि – क्लेश के साथ जाति, आयु और भोग रूप कर्माशयरूप बीज जिससे निकल गया, तब चित्त स्वकारण प्रधान में लय हो जाने से पुनः आवर्तन नहीं होता । सम्यग् ज्ञान प्राप्त होकर उसको भी निरोध करके जब प्रत्ययहीन हो जाता है तब ही असम्प्रज्ञातयोग प्राप्त होता है । इस

प्रकार से 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' को दो प्रकार के योग दिखाये गये हैं ॥२॥

इस प्रकार निरुद्ध अवस्था में आत्मा के साथ बुद्धि का संयोग रहते हुए भी चेतन (पुरुष) बुद्धि को नहीं जानते हैं; क्योंकि विविधविषयाकारवृत्ति अन्विता बुद्धि, विषय भोग और विवेकख्याति आत्मक पुरुषार्थ वाली होती हुई ही पुरुष का विषय होती है, निरुद्ध अवस्था में विषय भोगादि का अभाव होने से बुद्धि का वहाँ प्रयोजन नहीं रहता। इसलिए पुरुष का विषय होना युक्त नहीं, अतएव विषयलेश रहित चेतन का सूत्रकार "चित्तवृत्तिनिरोध" पद समूह का व्याख्यान करते हुए पहले चित्त पद का व्याख्यान करते हैं–

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।। ३ ।।

तदा = असंप्रज्ञात समाधि में–निरुद्ध अवस्था में, द्रष्टा = चेतन पुरुष का, स्वरूपे = –निर्विषय चैतन्यमात्र आत्मा में ही, अवस्थान = प्रतिष्ठा = स्थिति होती है; जैसे परम कैवल्य में होती है। अर्थात् आरोपित शान्त, घोर तथा मूढ़ अवस्थाओं को निषेध करता हुआ उपाधिरहित पुरुषचैतन्य, स्वाभाविक स्वच्छ स्फटिक जैसा जपाकुसुम उपाधि के सन्निधान से रक्तिम वर्ण दिखाई देता और उपाधि की निवृत्ति होने पर चेतन की वृत्ति प्रतिबिम्बरहित होने पर स्वस्वरूप में अवस्थित होते हैं। क्योंकि पुरुष निर्लेप, नित्य, शुद्ध, मुक्त, चेतन, व्यापक, महान्, अकर्ता, विकृतिरहित, शाश्वत, साक्षी और द्रष्टा रूप से विख्यात। निर्लेप = प्रकृति गुणात्मक शान्तादि धर्म द्वारा अनाविद्ध होने से निर्लेप, आविर्भाव तिरोभाव रहित होने से नित्य, अविद्या –अस्मिता–राग–द्वेष–अभिनिवेशादि प्रकृतिधर्मरहित होने से शुद्ध, स्वयंप्रकाश स्वरूप होने से बुद्ध, स्वाभाविक बन्धनादि से अनाविद्ध होने से मुक्त, चैतन्यस्वभाव वाला होने से चेतन, नित्यबोध प्रकाश स्वरूप होने से अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी ही व्यापक है, महान्-महत परिमाणवान् होनेसे, धर्मादिबुद्धि युक्त होने से कर्तृत्व बुद्धि का, आत्माका तो स्वाभाविक अकर्तृत्व, विकृति भी बुद्धि आदिमें रहती है शाश्वत = अपक्षय रहित होनेसे हमेशा रहने वाला, साक्षी–मध्यस्थ, द्रष्टा–स्वाभाविक द्रष्टृत्व, निरञ्जन-अज्ञानरूप अञ्जन-अन्धकार रहित होने से निरञ्जन। ये सब अद्वय अखण्ड आत्मा का ही विशेषण है ॥ ३॥

चितिशक्ति किस प्रकार से अपने स्वरूप में अप्रतिष्ठित की तरह प्रतिभासित होती है? दर्शित विषय होने से – अर्थात् जिससे सदा बुद्धिरूप प्रकाश्य विषय ज्ञात होता है, ऐसा ही चितिशक्ति वृत्तिस्वरूप-सा प्रतीयमान होती है। कब ?

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।। ४।।

व्युत्थाने = अनिरुद्ध चित्तकी दशामें जो चित्तवृत्तियाँ, शान्त, घोर और मूढ वृत्तियाँ ही अविशिष्टा अर्थात् अभिन्ना – अविभक्त एकरूप से प्रतीयमान जिस पुरुष का,

उसको पंचशिखाचार्य सूत्रसे दिखाते हैं – **"एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शन"** मिति अर्थात् चिद्रूप पुरुष का दर्शन और बुद्धिरूपा ख्याति का दर्शन एक अभिन्न अविभक्त वस्तु जैसा प्रतीति होती है। उसको दृष्टान्त से दिखाते हैं- अयस्कान्तमणि (चुम्बक) जैसा अपना सान्निध्यमात्र से लौहखण्डों को स्पर्श न करके भी उपकार करती है, वैसे पुरुष भी सान्निध्यमात्रसे चित्त को भोग और अपवर्ग देता है। यहाँ सन्निधि देश या काल से नहीं हो सकती, क्योंकि पुरुष और प्रधान देश और कालातीत है। पुरुष भोक्तृशक्ति और चित्त भोग्यशक्ति होती है, इसलिए कहा दृश्यत्व होने से अर्थात् चित्त का दृश्यत्व स्वाभाविक है, और पुरुषका स्वामीभाव स्वाभाविक है। 'यह मेरी बुद्धि' इस प्रकार बोध ही मौलिक द्रष्टृत्व और दृश्यत्व स्वभाव है, इसमें कोई हेतु नहीं है। पुरुष और प्रधान का सम्बन्ध भी अनादि है, इस विषय को आगे स्पष्ट करेंगे ॥ ४॥

चित्त का स्वरूप असंख्यात वृत्तिरूप होने से उसका कैसे निरोध हो सकता है? इस आशंका का परिहार करने के निमित्त उसका प्रतिपादन करने के लिए सूत्र का अवतरण करते हैं–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ।। ५।।

वृत्ति समूह पाँच प्रकार में विभक्त हैं। वे क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप हैं। वृत्ति अवयवी रूप से एक, उसका प्रमाणादि पाँच अवयव हैं। रजोतमोमयी वृत्ति समूह प्रवृत्ति का कारण होने से विपर्यस्त प्रत्यय उत्पन्न करके क्लेश देती है, इस कारण वे क्लेशमूलक या क्लेशस्वरूप होने से क्लिष्टा, कर्म संस्कार का सञ्चय के क्षेत्रीभूता है, उसका विपरीत विवेकख्याति विषया अर्थात् रज-तमो रहित बुद्धिसत्त्व का प्रशान्तवाही प्रज्ञा का प्रसाद ही ख्याति है, उस ख्याति से सत्त्व और पुरुष का विवेक कराती है, इसलिए वे गुणाधिकार विरोधिनी। क्योंकि कार्य आरम्भ कराती है, अतः क्लेशरूपा। इस कारण से गुण निवर्तिका ख्याति विषयावृत्ति अक्लिष्टा। विवेक करने वाली अन्य वृत्तियाँ जो आगम अनुमान और आचार्यके उपदेशको परिशीलन करने पर अभ्यास द्वारा पर वैराग्यको उत्पन्न कराती है, वे क्लिष्टाके प्रवाहमें पड़ने पर भी अक्लिष्टा है। इस प्रकार से अक्लिष्टछिद्र में पतित क्लिष्टा भी उदित होती है। अतएव अक्लिष्ट वृत्ति द्वारा अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न कराती है और क्लिष्टवृत्ति द्वारा क्लिष्टसंस्कार उत्पन्न कराती है। इस प्रकारसे निरोध समाधि तक वृत्ति संस्कार चक्र हमेशा आवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकारसे निरोध अवस्थाका संस्कार समाप्त हो जाता है या प्रलय हो जाता है ॥ ५॥

पूर्व सूत्रोक्त पाँच प्रकार भेद दिखाते हुए नाम लेकर बताते हैं –

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ।।६।।

१. प्रमाण, २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा, और ५. स्मृति।

योगशास्त्र में ये पाँच प्रकार ही वृत्तियाँ मानी गईं, इससे अतिरिक्त नहीं। चित्त प्रवर्तक या निवर्तक स्वभावकी होती है अतः ये ही क्लिष्टा या अक्लिष्टा होती हैं ॥ ६॥

सर्वत्र शास्त्रका तीन प्रकारकी प्रवृत्ति होती है- उद्देश, लक्षण, और परीक्षण। (१) नाम लेकर पदार्थ मात्र का संकीर्तन – उद्देश। (२) उद्दिष्ट पदार्थ का तत्त्व व्यावर्तक धर्म–लक्षण, (३) लक्षित का लक्षण यथायोग्य सम्भव है कि नहीं रूप विचार परीक्षण। इसमें पूर्वसूत्र से वृत्तियों को उद्देश कहे गये हैं। अभी उस उद्दिष्ट अर्थ को प्रामाणिक करने की इच्छा से प्रमाणों का भेद दिखाते हुए प्रमाण का सामान्य लक्षण बताते हैं –

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। ७ ।।

प्रथमतः प्रमाण का लक्षण बता रहे हैं — इन्द्रिय रूप प्रणाली द्वारा विषय देश में जाकर यावत् बुद्धि वृत्तियाँ विषयाकार परिणत होती हुई विषय को लेकर परावृत्त होकर बुद्धिगत चैतन्य प्रतिबिम्बमें संक्रमण होती है, उस समय पुरुष तद् तद् आकारापन्न जैसा तद् तद् आकारमें अनुरक्त होता है। इस प्रकार वृत्यात्मक बोध ही पुरुष सम्बन्धी व्यवहार का हेतु — प्रमा है, उसका जो करण, उसको प्रमाण कहते हैं।

उसमें बहुवादि सम्मत होने से और सर्व प्रमाणों में ज्येष्ठ होने से प्रथमतः प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहते हैं- प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमा क्या है? सद्विषयक सन्निकृष्ट इन्द्रियजन्य यथार्थ बुद्धिवृत्ति अभिव्यक्त चैतन्य अथवा चैतन्यप्रतिबिम्बविशिष्ट सद्विषयसन्निकृष्ट इन्द्रियजन्य यथार्थ बुद्धिवृत्ति–प्रत्यक्ष प्रमा। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमा का जो करण विषय सन्निकृष्ट इन्द्रियजन्य बुद्धिवृत्ति – वही प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्षवृत्ति। प्रत्यक्षवृत्ति = सामान्य विशेषात्मक विषयों में विशेष का प्रधानता देना, सामान्य – शब्दादि संकेतरूप जात्यादि बहु व्यक्ति समवेतभूत मनका गुण= वाचि पदार्थविशेष, विशेष = प्रतिव्यक्तिगत वास्तव गुण, अर्थ = सामान्य विशेषात्मक तादृश गुणसमवेतभूतवाह्यवस्तुविशेष। प्रत्यक्ष से वास्तव गुणों का ही प्रधानतया गृहीत होता है, जाति सत्त्वादि सामान्य गुणों का अप्राधान्य होता है। इस प्रमाण व्यापार का फल दिखाते हैं- द्रष्टा के साथ अविशिष्ट = अविविक्त कैसे 'अहं बोद्धा' इत्याकारक, पौरुषेय = पुरुषप्रकाश्य चित्तवृत्ति ही बोध, जिस कारण से पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी = प्रति संवेदन हेतु अर्थात् चैतन्य ही बुद्धि रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर अर्थाकार रूप से तद् आकारता प्राप्त कराना ही फल है – इस विषय को आगे स्पष्ट किया जायेगा।

आगम अनुमानजन्य होने से और अनुमित विषय आगम के बाद कथन करने से प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का लक्षण कर रहे हैं। जिज्ञासित धर्मविशिष्ट धर्मी अर्थात् जिज्ञासित अगृह्यमाण हेतुगम्य विषय = अनुमेय-वह्न्यादि, तुल्यजातीया–महानसादि में

अनुवृत्त संपक्ष में समान, भिन्न जातीय से व्यावृत्त - असंपक्ष में अलब्ध जलह्रदादि, ऐसा धर्म का ज्ञान, सम्बन्ध हेतु, उस सम्बन्ध विषयक हेतु निबन्धना जो वृत्ति उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं। उदाहरण – चन्द्र तारकादि गतिमान, देशान्तर प्राप्ति होने से, जो जो उस प्रकार प्राप्तिमान, वह वह गतिमान = जैसे चैत्रादि । जो गतिमान नहीं, वह उस प्रकार प्राप्तिमान भी नहीं, जैसे विन्ध्यादि । यह अनुमान वृत्तिसामान्य अवधारणप्रधाना अर्थात् सामान्यधर्म द्योतक शब्दादि संकेतसाध्य होने से । इस वृत्तिका नाम अनुमान है ।

आगम का लक्षण बताते हैं– भ्रम, प्रमाद विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोष रहित जिसका वाक्य से श्रोता का अविचार सिद्ध निश्चय उत्पन्न होता है, वे श्रोता का आप्त, ऐसा आप्त पुरुष द्वारा दृष्ट या अनुमित धर्म–प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा ज्ञात विषय, परत्र स्वबोधसंक्रमण के लिए शब्द द्वारा या संकेत द्वारा शब्दार्थ विषय निबन्धना श्रोता का हिताहित प्राप्ति परिहार के उपाय रूप से जो विशेष रूप से जानते हैं अर्थात् वृत्ति उत्पन्न करते हैं वह आगम है, इस आगम का जो करणं है, वह आगम प्रमाण है । संक्षेप में अनधिगत यथार्थ ज्ञान ही प्रमा, प्रमा का कारण प्रमाण, ये ही सब प्रमाणों का साधारण लक्षण है ।। ७।।

इस प्रकार से प्रमाण रूप वृत्तियों का व्याख्यान करके विपर्यय रूप वृत्तियों को दिखाते हैं–

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।। ८।।

जो वस्तु जैसा नहीं है, उसमें तद्रूप ज्ञान होना विपर्यय, जैसा शुक्ति में रजत बुद्धि, अतद्रूप प्रतिष्ठम् = उस विषय का जो सच्चा रूप उस सच्चा रूप में प्रतिष्ठित नहीं होना अर्थात् उस विषय का जो पारमार्थिक रूप उस रूप में प्रतीति नहीं होना । भूतार्थ विषय होने से प्रमाण द्वारा अप्रमाण बाधित होता है । उसको उदाहरण से दिखाते हैं– अविद्या पञ्चपर्वा होती है – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । अव्यक्त महदहंकार पञ्चतन्मात्रा रूप अनात्मा में आत्मबुद्धि अविद्या=तम । इस प्रकार योगियों का अणिमादि अष्ट अश्रेय वस्तु में श्रेय बुद्धि मोह, पहिला से जघन्य होने से अस्मिता कहा गया है । योग द्वारा अष्टविध ऐश्वर्य प्राप्ति करके सिद्ध होकर दृष्टानुश्रविक इस विषयों को भोग करेंगे, इस प्रकार प्रतिपत्ति महामोह = राग, जब किसी कारण से अणिमादि ऐश्वर्य चला जाय और भोग नहीं मिलता तब क्रोध उत्पन्न होता है, वही तामिस्राख्य द्वेष है, और जब अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्ति के बाद ऐसी चिन्ता आती है– अहो कल्पान्त में ये सब नष्ट हो जायेंगे, इस प्रकार मन में जो त्रास उसको अभिनिवेश कहते हैं – यही अन्धतामिस्र नाम का चित्तमल है । आगे और भी स्पष्ट किया जायेगा ।। ८।।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।। ९।।

शब्दज्ञानानुपाती = जो ज्ञान शब्दज्ञान के सहारे उत्पन्न होता है और वस्तुशून्य

= वस्तु के तथात्व की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् जिसका विषय वास्तव में नहीं है, जैसे- "एष वन्ध्या सुत याति खपुष्पकृतशेखरः। कूर्मक्षीरचयेस्नातः शशशृंगधनुर्धरः ॥" यह विकल्प प्रत्यय विकल्प वृत्तिरूप है ।

वह प्रमाणान्तर्भूत नहीं है, विपर्यय का अन्तर्भूत भी नहीं, वस्तुशून्य होने से प्रमाण भी नहीं, परन्तु शब्दज्ञान के माहात्म्य निबन्धन व्यवहार देखा जाता है, यथा- चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, चैतन्य ही पुरुष – स्वरूप है, अतः चैतन्य पुरुष का स्वरूप ऐसा भेद वचन वास्तविक नहीं हो सकता, इसलिए वैकल्पिक है, उस वचन निबन्धन जो ज्ञान वह विकल्प है । जब चिति ही पुरुष है तो कौन विशेष्य और कौन विशेषण से विशेषित कर रहे हैं ? अवास्तव होने पर भी शास्त्र में प्रतिसिद्धा वस्तुभूता सुखादि धर्म जिसमें, ऐसे प्रतिसिद्ध वस्तु धर्मी पुरुष होता है, यह वृत्ति एक उदाहरण है, निष्क्रिय पुरुष–यह दूसरा उदाहरण है, और "तिष्ठति वाणः स्थास्यति स्थित" यहाँ भी विकल्प वृत्ति उत्पन्न होती है, क्योंकि "तिष्ठति" इत्यादि पदों से गति का अभाव मात्र को जानता है, न कि कोई निश्चित क्रिया का बोध कराता हो, इसलिए वह अनुत्पत्ति पदवाच्य धर्म विकल्पित है, और ऐसा विकल्पित वाक्य से निर्विचार ध्यान सिद्धि के पूर्वपर्यन्त व्यवहार होता है अर्थात् जब तक भाषानुगा चिन्ता वर्तमान है तब तक विकल्प का व्यवहार होता रहता है ॥९॥ निद्रा का वृत्तित्व स्फुटीकरण निमित्त लक्षण कर रहे हैं –

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

जाग्रत् स्वप्नावस्था नियत वृत्तियों का अभाव उसका प्रत्यय–अति अस्फुट ज्ञान–कारणीभूत जो बुद्धिसत्त्व के आच्छादक तम वही आलम्बन (विषय) जिसका, ऐसा तम विषयावृत्ति ही निद्रा अर्थात् स्वप्नहीना सुषुप्ति है ॥

वह निद्रा वृत्तिविशेष क्योंकि जाग्रत् काल में उसका स्मरण होने से स्मरण भी संस्कार बिना नहीं होता, संस्कार भी अनुभव बिना सम्भव नहीं, सुतरां निद्रा अनुभूति विशेष, जैसे अन्धकार अस्फुट रूप विशेष और समस्त रूप अन्धकार में एकीभाव है। इसी प्रकार से शरीर, इन्द्रिय और चित्त में जो जड़ता बोध होता है, वही निद्रावृत्ति, अन्यान्य वृत्तियों के जैसा त्रिगुणमयी "जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणंतश्चित्तवृत्तयः"– गुण की दृष्टि से जाग्रत्; स्वप्न और सुषुप्ति चित्तवृत्तिरूप है । उसको स्पष्ट करते हैं– जब कि सत्त्व के साथ तम का आविर्भाव होता है, उस सात्त्विक निद्रा से उत्थित होकर स्मरण होता है – "मैं सुख से सोया था, मन प्रसन्न है, बुद्धि को स्वच्छ कर दिया, जब रज के साथ तम का आविर्भाव होता है, उस समय स्मरण होता है– मैं दुःख से सोया था, मन अकर्मण्य हो गया, अनवस्थित चित्त हो जाता है, और जब रज–सत्त्व दोनों नितान्त अभिभूत हो जाते हैं, तम का समुल्लास होता है, उस समय जागकर भी मालूम

नहीं होता- मैं कहाँ हूँ, शरीर क्लान्त, चित्त आलस से भर गया, निद्रा का आवेश बना रहता, कुछ याद नहीं कर सकता । सुतरां निद्रा प्रत्यय विशेष है, अतएव अन्य वृत्तियों के जैसे निरोध करना चाहिए, क्योंकि निद्रा में एकाग्रता रहने पर भी तामस रूप होने से सबीज और निर्बीज समाधि का प्रतिपक्ष रूप है ।।१०।। स्मृति का लक्षण बता रहे हैं–

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।। ११।।

प्रमाणादि द्वारा अनुभूत विषय में जो असंप्रमोष – अस्तेय ही स्मृति कहलाती है। अस्तेय क्यों कहा ? संस्कारमात्रजन्य ज्ञानका संस्कारके कारण अनुभव द्वारा अवभासित जो विषय वही आत्मीय होता है, उससे अतिरिक्त विषय का ग्रहण सम्प्रमोष = स्तेय, क्यों ? सादृश्य से । सारे प्रमाणादि अनधिगत विषय को ही सामान्यतः या प्रकारतः रूप से जानते हैं, उसमें स्मृति पूर्वानुभव मर्यादा को अतिक्रम नहीं करती, उस विषय को या उससे कम विषय को ग्रहण करती है, अतिरिक्त विषय को नहीं, यही स्मृति में विशेषत्व है । वही प्रश्न रूप से दिखा रहे हैं– क्या प्रत्यय का प्रत्यय मात्र अर्थ को ? 'घटं जानामि' इत्यात्मक ज्ञान का या रूपादि विषय का चित्त स्मरण करती है ? उत्तर में कहते हैं– उभय का ही, ग्राह्योपरक्त = शब्दादिग्राह्य विषयों के साथ उपरोक्त प्रत्यय में ग्राह्य और ग्रहण उभयाकार का भान होता है, प्रत्यय का भी अनुभव होने से, और तथा जातीय अर्थात् ग्राह्य–ग्रहण उभयाकार संस्कार को उत्पन्न करता है, वह संस्कार कैसे है? स्वव्यञ्जकाञ्जन = अपना व्यञ्जक का जो उद्बोधक उससे अञ्जन = व्यक्ति भाव जिसका, वैसा ग्राह्यग्रहणाकार स्मृति को उत्पन्न करते हैं ।

उसमें बुद्धि ग्रहणाकार प्रधान है और स्मृति ग्राह्याकार प्रधान है । इस कारण से स्मृति को वृत्त्यन्तर विषयीकृत गोचरा कही जाती है, यही इसका अप्रमोष है ।

वह स्मृति दो प्रकार – भावित स्मर्त्तव्या स्वप्न में = भावित कल्पित स्मर्तव्य जिससे, अभावित स्मर्तव्य–अभावित = अकल्पित पारमार्थिक स्मर्तव्य जाग्रत् में । सारी की सारी वृत्तियों के अनुभव से संस्कार और संस्कार से स्मृति यही क्रम सर्वत्र है । सारी वृत्तियाँ सुख-दुःख–मोहात्मिका, सुख-दुःख–मोह भी क्लेशरूप है सुतरां सारी वृत्तियों का निरोध होना चाहिए, और सबका निरोध होने पर सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि होती है । ।।११।। इस प्रकार योगका सामान्यरूपसे लक्षण बताकर अभी उसके उपायका प्रतिपादन की इच्छासे सूत्रकार उपायका सार संग्राहकरूप सूत्रका अवतरण कर रहे हैं –

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।।१२।।

इस चित्त वृत्तियों का अभ्यास और वैराग्य द्वारा निरोध हो सकता है । नदी का दृष्टान्त से बता रहे हैं– चित्त नदी की तरह है, उस चित्तनदी कल्याणवाही और

पापवाही होती है, जब कैवल्यप्राग्भारा = मोक्षाभिमुखी होती है, उस समय विवेकका विषयरूप निम्नमार्गमें बहती है, वह कल्याणका मार्ग है, और जब संसार प्राग्भारा = अविवेक से ऐन्द्रियक बाह्य विषयों के तरफ बहती है तब पापवाही होती है। वैराग्य से विषयस्रोतको कम कर देते हैं, और जब विवेकके मार्गमें चलते हैं तो विवेक स्रोतको बलवान बना देते हैं, जिससे निरोधरूप कैवल्य सागरमें जाकर विलीन हो जाती है ॥१२॥ अब अभ्यास का स्वरूप और प्रयोजन बताकर लक्षण कह रहे हैं –

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।।१३।।

अवृत्तिक का अर्थात् राजस–तामस वृत्ति रहित का, प्रशान्तवाहिता = विमला सात्त्विक वृत्तिवाहिता एकाग्रता स्थिति, उस स्थिति निमित्त जो प्रयत्न, वही अभ्यास है, वीर्य = उत्साह, उस स्थिति सम्पादन की इच्छा से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग साधन यम नियमादि के पुनः पुनः अनुष्ठान को अभ्यास कहा गया है ॥१३॥

यदि कहें व्युत्थान संस्काररूप परिपन्थी विरुद्ध अनादि अभ्यास को स्थिति के लिए कैसे इच्छा कर सकते ? उसके उत्तर में कहते हैं–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः ।।१४।।

उस अभ्यास दीर्घकाल यावत् आसेवित = अनुष्ठित, निरन्तर = प्रत्यह प्रतिक्षण अनुष्ठित, कैसे? तप से, ब्रह्मचर्य से, श्रद्धा से, विद्या से जब सम्पादित होता है, वही संस्कारवान् अभ्यास दृढ़भूमि दृढ़ावस्थ होते हैं अर्थात् व्युत्थान संस्कार (वैषयिक ज्ञान) द्वारा सहसा अभिभूत नहीं होते हैं। अभ्यास करके उपरान्त हो जाने से काल क्रम से अभिभव हो जाता है इसलिए कहा द्राग् इति ॥१४॥ अभ्यासकारी वैराग्य का स्वरूप दिखा रहे हैं–

दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।।१५।।

विषय दो प्रकार, दृष्ट और अनुश्राविक। दृष्ट–यह लौकिक स्त्रीअन्नपानशब्दादि, अनुश्राविक – अनुश्रव = वेद, उससे अधिगत – गुरुमुख से श्रुत अनुश्राविक, स्वर्गादिविषया – स्वर्ग, वैदेह्य – प्रकृतिलयत्व ये ही सब वेदोक्त अनुश्राविक विषय, इनमें जो वितृष्ण वह वशीकार संज्ञा वह वैराग्य है। वशीकार का पूर्व में तीन अवस्था होती है। १.यतमान = विषयों में राग उत्पादन निमित्त ज्ञानपूर्वक वैराग्य साधन का अनुष्ठान करना प्रथम भूमिका। २. व्यतिरेक = किसी विषयमें विराग सिद्ध हुआ और किसी विषयमें सिद्ध करना है, ऐसा व्यतिरेक अवधारणयोग्यता व्यतिरेक सत्ता द्वितीय भूमिका। ३. रूप-रसादि बाह्येन्द्रिय विषयोंमें रागादिका तो क्षय हुआ परन्तु एकमात्र मन में मानापमान विषयक रागद्वेषादिक्षय निमित्त औत्सुक्य भी न रहे, वह एकेन्द्रिय संज्ञा वैराग्य तृतीय भूमिका; उसका भी नाश होना वशीकार संज्ञा चतुर्थ भूमिका सिद्ध होती है।

ऐश्वर्य = प्रभुत्व, (सम्पत्ति), स्वर्ग = इन्द्रत्वादि, (दुःखरहित सुख विशेष) वैदेह्य = स्थूलदेह न रहने पर भी लिंगशरीर द्वारा ही देवताओं का भोग भोगना विदेह है, तद्रूपता, वैदेह्य, प्रकृतिलय = प्रकृति को ही आत्मा मानकर प्रकृति के उपासक लोगों का प्रकृति के साधिकार में लीन होना, उसमें भी वितृष्ण और जब दिव्यादिव्य विषय का संयोग हो, उसमें भी दोष दर्शन कैसे होवे ? उत्तर में कहते हैं – प्रसंख्यान के बल से, प्रसंख्यान = सम्प्रज्ञा, जिस विषय हान निमित्त निरवच्छिन्न प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसके बल से अभोगात्मिका = तुच्छता ख्यातिमती, हेयोपादेयशून्य वैतृष्णावस्था वशीकार संज्ञा। यह भी अपर वैराग्य ही है ॥१५॥ अपर वैराग्य को कहकर पर वैराग्य को कहते हैं –

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

परवैराग्य के प्रति अपर वैराग्य कारण है, उसे दिखा रहे हैं– दृष्टानुश्रविक विषय में दोषदर्शी विरक्त – इससे अपर वैराग्य दिखाये हैं। पुरुष को इस प्रकार के दर्शन का अभ्यास हो जाने से आगम, अनुमान, आचार्योपदेश द्वारा समाधिगत पुरुष का जो दर्शन उसका पुनःपुनः अभ्यास से जो शुद्धि = रज और तमरूप का हानि द्वारा सत्त्व की जो एकतानता, उससे गुण और पुरुष का जो प्रकृष्ट विवेक अर्थात् पुरुष शुद्ध – अनन्त है; उसका विपरीत है गुण समूह, उस विवेक से जिस योगी की बुद्धि आप्यायित हो गयी उसको धर्ममेघाख्य समाधि होती है। ऐसा योगी व्यक्ताव्यक्त सब धर्मों से विरक्त सत्त्व और पुरुष की अन्यथाख्याति भी गुणात्मिका होने से उसमें भी विरक्त – इससे वैराग्य दो प्रकार के हुए, पहले वाला वैराग्य–सत्त्व-समुद्रेक से विधूत तम-रजकण कलङ्क से युक्त चित्तसत्त्व उससे प्रकृति लय होता है, उससे भी जो विरक्त वह द्वितीय – जो कि ज्ञान का प्रसाद मात्र से उदय होता है, यहाँ मात्र पद से निर्विषयता को सूचित करते हैं, इस प्रकार जो चित्त सत्त्व-रजलेश मल से भी स्पष्ट न होने से ज्ञानप्रसाद कहा गया है। चित्तसत्त्व स्वाभाविक प्रसन्नस्वरूप होने पर भी रज–तम सम्पर्क से मलिनता का अनुभव करता है, वंही जब वैराग्याभ्यास रूप विमलवारिधारा द्वारा धौत होकर समस्त रज–तम–मलहीन होता है उस समय अति प्रसन्न होकर ज्ञानप्रसादमात्र शेष रहता है। उसका उदय होने पर योगी प्रत्युदितख्याति = अविलुप्त विवेक सम्पन्न हो जाता है, उस समय वे मानते हैं – प्रापणीय कैवल्य को प्राप्त हुआ, जीवन्मुक्त हो जाता है, वासना के साथ समस्त अविद्यादिक्लेश क्षीण हो गया, जन्ममरण लक्षण कर्माशय जो अविच्छिन्न था, वह छिन्न हो गया, यही ज्ञान का पराकाष्ठां है, इस प्रकार धर्ममेघसमाधि से परवैराग्य को प्राप्त होता हैं। यही अविनाभावि कैवल्य है। श्रुति भी कहती है– "भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" अर्थात् आत्मारूप पुरुष ही परावर ब्रह्म उसका दर्शन से अविद्या पञ्चक्लेश रूप ग्रन्थियों

का नाश हो जाते हैं। सारे धर्माधर्मरूप संशय का बन्धन छिन्न हो जाते हैं, वासना सहित सारे कर्माशय क्षय हो जाते हैं। यही जीवन्मुक्ति है। फिर जन्म-मरण रूप संसार चक्र में नहीं पड़ता ॥१६॥

इस प्रकार सामान्य रूप से योग और उसका साधन कहकर विशेष रूप से बोलने की इच्छा से पहले योगगत अवान्तर विभाग दिखाते हुए भाष्यकार प्रश्न रूप से पूछते हैं – अभ्यास और वैराग्य रूप दो उपाय से जब राजस-तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब पुरुष का किस प्रकार क्या-क्या भेद से सम्प्रज्ञात योगशास्त्र में कथन करते हैं ? उसके उत्तर में सूत्ररूप से कह रहे हैं–

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

वृत्तियों द्वारा स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम विषयक सम्यक् लक्ष्यरूप से योग में प्रकृष्टरूप से जो जाना जाता है – वह सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। प्रथम सवितर्क जब सुसिद्ध हो जाता है तब उत्तर के तीनों का जनक होता है। द्वितीय सविचार से सिद्ध होने पर उत्तर के दो का जनक बनता है। तृतीय सानन्द सुसिद्ध होने पर एक का जनक होता है। पहले तीनों से विशिष्ट चतुर्थ सास्मित परवैराग्य द्वारा उसका उत्तर असंप्रज्ञात का साधक होता है। परन्तु साक्षात् साधक नहीं, क्योंकि वह वृत्ति का अविरोधी नहीं।

जैसे धनुषधारी प्रथमतः स्थूल लक्ष्य को ही वेध करता है, वाद में सूक्ष्मादि, वैसे ही प्राथमिक योगी स्थूल पाञ्चभौतिक चतुर्भुजादि ध्येय का साक्षात्कार करते हैं, बाद में सूक्ष्मादि। चित्त प्रथमतः स्थूल होने से स्थूल आलम्बन का आभोग = परिपूर्णता स्वरूप साक्षात्कारी प्रज्ञा द्वारा स्थूल भय और इन्द्रियों द्वारा अदृष्ट अश्रुत अशेष विशेष का साक्षात्कार करते हैं – वही सवितर्क सम्प्रज्ञात है। सूक्ष्म सविचार – उसका आलम्बन कारणत्वादि द्वारा अनुगता जो प्रकृति महदहंकार पञ्चतन्मात्ररूपा भूतेन्द्रिय का सूक्ष्म विषय उसका आकार रूप होने से सूक्ष्म जो चित्त की परिपूर्णता – सूक्ष्मगत अशेष विशेषक साक्षात्कार, वह सविचार सम्प्रज्ञात है। उसका आलम्बन से चित्त का जो विचारानुगत भूमि उसमें आरोहन हल हो जाने पर सत्त्व का विशेष उत्कर्ष होने पर जो ह्लादाख्य सुखविशेष उसका परिपूर्ण साक्षात्कार से सानन्द सम्प्रज्ञात वह उससे अनुगता जो निरोध समाधि आनन्दानुगत नाम का योग है।

एकात्मिका संविद् अस्मिता। एक ही आत्मा चित्त का विषय रूप से होती है, इसलिए एकात्मिका कहते हैं। एक का आलम्बन से चित्त का जो केवल पुरुषाकारा संविद् का साक्षात्कार, उसको 'अस्मि' इतना ही आकार होने से अस्मिता कहते हैं। उसका अनुगत जो निरोध उसको अस्मितानुगत योग नाम से कहा जाता है। ये सब सालम्बन समाधियाँ हैं ॥१७॥ क्रमप्राप्त असंप्रज्ञात समाधिका अवतरण की इच्छा से और पूछते हैं–

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।।१८।।

सारी वृत्तियों का अभाव हो जाय ऐसी प्रत्यय-विराम प्रत्यय, अर्थात् ज्ञान में भी अलंबुद्धि अर्थात् ज्ञान का भी निरोध हो जाय, इस प्रकार पुनः पुनः अभ्यास से परम वैराग्य पूर्वक निष्पन्न जो संस्कार का शेष – अव्यक्त रूप से अवशिष्ट अवस्था – वही असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि है ।

सर्ववृत्तियों की प्रत्ययहीनता उत्पन्न होने पर जो असंप्रज्ञात निर्बीज समाधि अवस्था, उसका उपाय परम वैराग्य है । सालम्बन अभ्यास उसका मुख्य साधन नहीं है। वृत्तियों के निरोध के लिए तब परम वैराग्य का प्रयोजन होता है, और परम वैराग्य से वृत्तियों का बीजभाव दग्ध हो जाने से असंप्रज्ञातयोग सुस्थ हो जाता है । इस प्रकार वैराग्याभ्यासकृत चित्त निरालम्बन निर्विषय अभाव प्रत्यय की तरह वृत्तिरूप कार्य न करने से मृतक जैसा हो जाता है, इस अवस्था को ही निर्बीज कहा गया है । स्वेच्छा से संस्कारों को दग्धबीज अवस्था में परममुक्ति होती है, इस प्रकार असंप्रज्ञात सिद्ध होने पर पुरुष चेतन निर्भोग होकर प्रकृति को प्रेक्षक रूप से स्वच्छ होकर देखते हैं । बुद्धि भी फल रहित होकर निष्परिकर अभावमात्र जैसी केवल स्वरूपमात्र में अवस्थान करती है, उसका संयोग भी विलुप्त जैसा, असत् जैसा विलयाभिमुखी होकर निराधारा हो जाती है और पुरुष शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्द स्वरूप अपना आनन्दस्वरूपमात्र में प्रसन्न हो जाता है । यही परममुक्ति का लक्षण है ॥१८॥

निर्बीज निरोध समाधि का अवान्तर भेद कैवल्य के लिए नहीं होता, उसको विवृत कर रहे हैं – वे दो प्रकार के होते हैं, उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय । उसमें कैवल्य प्राप्ति की इच्छा वाले योगी के लिए उपायप्रत्यय और विदेह एवं प्रकृतिलय वाले के लिए भवप्रत्यय । प्रथम भवप्रत्यय बता रहे हैं–

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम् ।।१९।।

जो विदेह स्थूल सूक्ष्मशरीरविहीन और पुरुषख्यातिहीन परन्तु दोषदर्शन निमित्त देह धारण में वैराग्यवान् पुण्यविशेष के कारण देवादिशरीरयुक्त, वे साधना के बिना ही असंप्रज्ञातयोग द्वारा सर्वकरणों के कार्यों को निरोध करते हैं, कार्य के अभाव से करणशक्ति भी नहीं रहने से वे प्रकृति में लीन रहते हैं, स्थूल–सूक्ष्मशरीर के साथ संयोग होता नहीं, कहावत है– "वैराग्यात् प्रकृतिलयः" – वैराग्य से प्रकृतिलय । ये लोग भी सिद्ध निर्बीज समाधियुक्त होते हैं, परन्तु वैराग्य के संस्कार से युक्त होने के कारण कैवल्य पद को प्राप्त होते हैं; क्योंकि पुरुषख्याति बिना संस्कार का सम्यक् नाश नहीं हो पाता, इस कारण संस्कार के बल से नग्नवद् उत्थान होता है, विदेही देवताओं की तरह प्रकृतिलय वालों का भी होता है । इसलिए विदेह और प्रकृतिलय युक्त निरोध

भवप्रत्यय होता है । भव–जन्म हेतु क्लेश मूलक संस्कार, जन्म भी अविद्यामूलक संस्कार से, विवेकहीनता सूक्ष्म अस्मिता मूलक वैराग्य का संस्कार से, क्लेशमूलक कर्माशय से देवताओं के जन्म की तरह विदेह प्रकृतिलय वाले भी महासत्त हुए और पुनरावर्तन में महान् ऋद्धि सम्पन्न होकर प्रादुर्भूत होते हैं । ये लोग जन्म से ही असंप्रज्ञात समाधियुक्त होते हैं । यावदिच्छा तावत् स्थूलशरीर में भी सहस्र वर्षाधिक काल पर्यन्त स्वेच्छाधीन होकर लोक में विहार करते हैं । इस प्रकार ब्रह्मांड का अष्ट आवरण के बाहर अवस्थित विष्णु आदि हिरण्मयकोषान्तर्गत जीव भी सर्वदा असम्प्रज्ञात योगयुक्त होते हैं । जब वे ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके जन्म लेते हैं, वे भी भवप्रत्यय वाले असंप्रज्ञातयोगी ही होते हैं ॥१९॥ उपाय रूप असंप्रज्ञात समाधि बता रहे हैं–

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।।२०।।

इतरों से – विदेह प्रकृतिलय ईश्वरों से अतिरिक्त देवताओं को जन्म मात्र से ही असंप्रज्ञात समाधि लाभ होता है किन्तु योगियों को श्रद्धादि प्रज्ञान्त उपायों से ही समाधि होती है । उसमें श्रद्धा - चित्त का संप्रसाद - प्रीति - आदर, फलाशाविषयक निश्चयात्मिका आस्था, श्रद्धा जननी की तरह योगी को सहस्र प्रतिबन्धों से रक्षा करती हुई पालन करती है । इस प्रकार श्रद्धा दृढ़ीभाव हो जाने पर योगियों का अभिलषित वीर्य उत्पन्न होता है, वीर्य-प्रयत्न-योगप्रतिबन्धक अविद्यादि क्लेशों का ध्वंस और योगाभिमुखता सम्पादक सामर्थ्य, उससे स्वात्मविषयक अविरल स्मृतिध्यान होता है, आत्मध्यान से अविक्षिप्त चित्त निरोधावस्था का अभिमुख होकर विलयाभिमुखी होती है, उससे यमादि ध्यानान्त उपायों का दृढ़ीभाव होने पर निरुद्धावस्था रूप आत्मतत्त्व विषयक समाधि का उद्भव होता है । इसी की सम्प्रज्ञात संज्ञा होती है । सम्प्रज्ञात योग से सत्त्व और पुरुष की अन्यथाख्याति होती है, यही विवेक प्रज्ञा कहलाती है । विवेकख्याति से प्रकृति को बन्धनात्मिका देखकर उसमें परम वैराग्य हो जाने से गुण वैतृष्णात्मक वशीकार संज्ञा वैराग्य से असंप्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है । वही सत्त्व अन्यथाख्याति पूर्व परम कैवल्य हेतु तत्काल पुरुष को परम कैवल्य का समर्पण करता है ॥२०॥ पूर्वोक्त उपायवान् योगियों में उपायभेद से भेद बता रहे हैं -

तीव्रसंवेगानामासन्नः ।।२१।।

संवेग – क्रिया हेतु दृढ़तर संस्कार । अधिमात्र उपाय युक्त योगियों का तीव्र होता है, उनको समाधि लाभ शीघ्र होता है । स्मृति भी कहती है –

विनिपन्न समाधिस्तु मुक्ति तत्रैव जन्मनि ।।२१।।

वे तीव्र संवेग कैसे, उसको कहते हैं -

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।। २२।।

मृदु – जिस साधक में श्रद्धा विवेकादि समान्य मात्रा में है ।

मध्य – जो उनसे उन्नततर है । अधिमात्र – जिसमें ये अति मात्रा में है । इनमें भावना जहाँ-जहाँ विशेष है, वहाँ-वहाँ पूर्व-पूर्व से विशेष होता है । सुतरां अधिमात्र उपाय रूप तीव्र संवेग में महान् यत्न करना चाहिए ।।२२।।

क्या तीव्र संवेगक की अधिमात्रता से ही आसन्नतम समाधि अथवा कोई विकल्प भी है ? विकल्प को सूत्र द्वारा बताते हैं –

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।। २३।।

प्रणिधान यहाँ द्वितीयपाद में कथित प्रणिधान नहीं किन्तु असंप्रज्ञात का कारणीभूत समाधि भावना विशेष ही, "तज्जपस्तदर्थभावनम्" इस आगामी सूत्र में आत्मप्रणिधान का लक्षण किया गया है । इन दोनों सूत्र का मिश्रित अर्थ – विवेक से प्रज्ञान्त जिस योग का उपाय जीवात्मा और परमात्मा के लिए साधारण विषय कहा, वहाँ प्रज्ञान्त उपाय का अधिमात्र संवेग से ही जीवात्मा आसन्नतम असंप्रज्ञात समाधि होती है, प्रज्ञान्त उपाय का अधिमात्र तीव्र संवेग का न होने पर भी परमात्मा की आसन्नतम असंप्रज्ञात समाधि होती है । इस प्रकार मुख्य कल्प अनुकल्प के भेद से परमात्मा और जीवात्म प्रज्ञाओं को योग और मोक्ष का हेतु कहा गया है । उभय प्रज्ञा ही देहादि अभिमान निवर्तक होने से परवैराग्य द्वारकत्व साम्य होने पर भी तीव्र अभ्यास के बिना भी परमात्म प्रज्ञा का आसन्नतम योग का कारण होने पर श्रेष्ठ है । "ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च" इस आगामी सूत्र द्वारा अधिक द्वार का कीर्तन होने से । अतएव श्रुति, स्मृति, इतिहास आदि में प्रायशः ब्रह्मज्ञान को मोक्ष का हेतु रूप से माना गया है । यदि उभय का ही तुल्य विकल्प हो – "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" उस आत्मा को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रम किया जाता है । इसके बिना अन्य कोई मार्ग नहीं है । "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ" उस आत्मा को ही जान, अन्य बात को छोड़ दो । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विणुते तनुं स्वाम् " ईश्वर भक्ति से वशीकृत होकर जिस अधिकारी को वरण करते हैं अर्थात् यह भक्त अपनी अभिमत वस्तु को प्राप्त करे । इस श्रुति समूह द्वारा कथित ब्रह्मात्मरूप चिन्तन से प्रेमलक्षणभक्ति रूप वक्ष्यमाण प्रणिधान से अभिमुखीकृत ईश्वरध्यायी का अभिध्यान मात्र से इसकी समाधि और मोक्ष आसन्नतम हो जाय, ऐसी इच्छा मात्र से रोग या आशक्ति आदि कारणों से उपायों का अनुष्ठान मान्द्य होने पर भी अनुकूल हो जाते हैं । सुतरां ईश्वर का अभिध्यान से भी प्रणिधान की निष्पत्ति द्वारा योगियों को आसन्नतम समाधि और मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं ।।२३।।

पञ्चविंशति तत्त्व ही विश्व का निमित्त और उपादान कारण है। उसमें प्रधान मूल-उपादान, पुरुष मूलनिमित्त। संसार में जो कुछ है या कल्पना किया जाता है वे सब के सब कुछ प्रधान और पुरुषात्मक ही है; ईश्वर न तो प्रधान है न पुरुष। तब ईश्वर का लक्षण क्या है ? इसका उत्तर सूत्र द्वारा दे रहे हैं–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।। २४।।

अविद्यादि पञ्चक्लेश विपर्यय ज्ञानरूप होने से दुःखजनकविहित-प्रतिषिद्ध और व्यामिश्ररूप कर्म धर्माधर्म संस्काररूप है, कर्म का फल जाति-आयु-भोग विपाक, फल और विपाक चित्तभूमि में शयित रहते हैं, इसलिए इसको आशय-वासना कहते हैं। ये सब रहते हैं मन में, किन्तु आरोपित होते हैं पुरुष में, उपचार का फलरूप से वह भोक्ता-वोद्धा बन जाते हैं, जैसे युद्ध की जय-पराजय का फल स्वामी में हुआ करता है। इस प्रकार भोक्तृभाव से जो तीन कालों में संसृष्ट नहीं होता, ऐसा पुरुष विशेष ईश्वर है। कैवल्य प्राप्त केवली पुरुष बहुत हैं। वे तीन प्रकार के बन्धन (प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिण, प्राकृतिक बन्धन प्रकृतिलय वालों का वैकृतिक विदेहलय वालों का और दाक्षिण-दक्षिणादिनिष्पाद्य कर्मकाण्ड करने वालों का) को तोड़ कर कैवल्य प्राप्त पुरुषों से विशेषत्व रखते हैं, इसलिए विशेष कहा गया है। ईश्वर का ये सब बन्धन न कभी था और न होगा। अतः ईश्वर ईशनशील इच्छा मात्र से सकल जगत् की सृष्टि-स्थितिसंहार क्षमापूर्व (वैदेह्यादि) मुक्ति के पूर्वबन्धनकोटि में और प्रकृतिलय वालों के उत्तरबन्धनकोटि में होते हैं, ईश्वर तो सदा ही मुक्त सदा ही ईश्वर है। इनको तो तीनों कालों में क्लेशादि का परामर्श नहीं होता, इस कारण वे विलक्षण ही भगवान् ईश्वर हैं। इनका इस प्रकार ऐश्वर्य अनादि सत्त्वों का उत्कर्ष से, सत्त्वोत्कर्ष भी प्रकृष्ट ज्ञान से है। इनका ज्ञान और ऐश्वर्य इतरेतर आश्रित नहीं है, परस्पर अनापेक्ष होने से दोनों ईश्वरसत्ता में अनादिरूप से वर्तमान, तथा ज्ञान और ऐश्वर्य का सम्बन्ध भी इनमें अनादि है। प्रकृति और पुरुष का संयोग और वियोग भी ईश्वरेच्छा से व्यतिरिक्त उपपन्न नहीं हो सकता। जैसे अन्यान्य जीवों का सुख-दुःख-मोहात्मक रूप से परिणत चित्त, तात्त्विक-धार्मिक-निर्मल चित्त, योगीशरीर में चित्त छायासंक्रान्त होकर प्रतिसंक्रान्ति से संवेद्य होते हैं, ऐसा ईश्वर में नहीं, वे तो केवल सात्त्विक परिणामरूप उत्कर्षवान् अनादि सम्बंध से भोग्य रूप से व्यवस्थित हैं। इस कारण से अन्य सब पुरुषों से विलक्षण होने से वे ही ईश्वर हैं फिर मुक्तात्माओं के क्लेशादि का योग तत्तत् शास्त्रकथित उपाय से निवर्तित होते हैं। ईश्वर तो सर्वदा शास्त्र निमित्त है और प्रकृष्टसत्त्व निमित्त शास्त्र और उत्कर्ष के कारण ईश्वर का चित्त में अनादि सम्बन्ध से सम्बन्धित है, इसलिए सदा ही वे ईश्वर सदा ही मुक्त, उनके बराबर या उनसे अतिशय किसी का नहीं है। जो कि अतिशय युक्त होवे

वही ईश्वर उनके बराबर ऐश्वर्य और किसी में हो नहीं सकता । क्योंकि यदि दो बराबर शक्ति वाले हों तो तुल्यबल होने से किसी को प्रार्थित वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती । सुतरां जिसका साम्यातिशय विनिर्मुक्त ऐश्वर्य वे ही ईश्वर हैं, वे ही पुरुष विशेष हैं ।।२४।। इस प्रकार परमेश्वर के ऐश्वर्य की पराकाष्ठा प्रदर्शित कर अभी उनके ज्ञान की पराकाष्ठा दिखाकर सर्वज्ञत्व का प्रदर्शन कर रहे हैं–

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।।२५।।

यावत् भूत-भविष्यत्-वर्तमान स्थूल-सूक्ष्म-पदार्थों के सामान्यतः और विशेषतः ज्ञातृत्व जिसकी अपेक्षा से जहाँ अधिक उसकी अपेक्षा से उसका विशेषज्ञता मानी जाती है । इस प्रकार किसी का बहु ग्रहण किसी का बहुतर ग्रहण, किसी का बहुतम ग्रहण, इस प्रकार बढ़ते हुए जहाँ निरतिशयता-पराकाष्ठा का प्राप्त होता वहाँ सर्वज्ञता बीज अर्थात् सर्वज्ञता का अधिकरण माना जाता है । वही ईश्वर है । इसमें अनुमान भी दिखाते हैं – सर्वज्ञत्व कहीं भी पराकाष्ठा को प्राप्त है, सातिशय होने से, परिमाणवत्, परिमाण भी ह्रस्व-दीर्घादिरूप अतिशय प्राप्त करके गगनादि में भी महत्त्व रूप से पराकाष्ठा को प्राप्त होता है । इस प्रकार से विज्ञान का भी न्यूनाधिक रूप से सातिशयता प्राप्त कर कहीं सर्वाधिक रूप से निरतिशयता को प्राप्त करता है । इस विषय में "यः सर्वज्ञः सर्वविद्" "सर्वेश्वर सर्वदृक् सर्वविच्च समस्त शक्तिः परमेश्वाराऽऽख्यः"-श्रुति स्मृति प्रमाण है । यद्यपि अनुमान सामान्य मात्र में पर्यवसित होने के कारण विशेष का ज्ञान सम्भव नहीं होता तथापि शास्त्र से सर्वज्ञत्वादि विशेष जान लेना चाहिए । उनका अपना प्रयोजन न रहने पर भी क्यों प्रकृति पुरुष का संयोग वियोग का आपादन करते हैं ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए । वे करुणामय हैं, इसलिए भूतानुग्रह ही उनका प्रयोजन है । "कल्पप्रलय तथा महाप्रलय में बचे हुए संसारियों को मैं उद्धार करूँगा ।" इस प्रकार उनका निश्चय रहता है । जिसका जो इष्ट है, वही उसका प्रयोजन है । ईश्वर तथा सगुणेश्वर भगवान हिरण्यगर्भ सृष्टि काल में अपनी आत्मा में अवस्थान करते हुए प्रलय काल में जनिष्यमाण निर्माण चित्त से भूतानुग्रह करते हैं – यह योगियों का मत है । कैवल्य प्राप्त योगी लोग भी निर्माणचित्त में अधिष्ठान करते हुए उपदेश के विषय में पंचशिखाचार्य का वचन प्रमाण रूप से देते हैं – जैसे आदि विद्वान् भगवान् परम ऋषि कपिल निर्माणचित्त अर्थात् संस्कार नष्ट होने पर योगियों का चित्त स्वतः ही वुत्थित नहीं होता । किन्तु अस्मिता द्वारा स्वेच्छा से परिणत योगियों ने भूतानुग्रहनिमित्त चित्त निर्माण कर लेते हैं, इस प्रकार निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर जिज्ञासमान आसुरि को करुणावशतः सांख्ययोगविद्या का उपदेश दिये थे । इस प्रकार ईश्वर नित्यमुक्त होता हुआ भी निर्माणचित्त में अधिष्ठित होकर विवेक प्राप्ति न होने पर उनके शरण में आये

हुए योगियों को विवेक का उपदेश देकर निःश्रेयस् को प्राप्ति कराते हैं । ब्रह्माण्ड असंख्य होने से ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रादि भी असंख्य होते हैं – किन्तु ईश्वर एक ही है।।२५।।

सम्प्रति ईश्वर का ब्रह्मादि से अपर विशेष को दिखाते हुए उनका प्रभाव बता रहे हैं–

पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।२६।।

पूर्व-पूर्व सृष्टियों में उत्पन्न ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रादि का भी गुरुपिता-अन्तर्यामी विद्या द्वारा ज्ञानचक्षु के दाता । ब्रह्मादि नित्यज्ञानवान् नहीं है, क्योंकि उनका ज्ञान (जन्म) काल और प्रलय से अवच्छेद युक्त विनाशी है । परमेश्वर का ज्ञान काल द्वारा अवच्छिन्न नहीं है, इसलिए वे नित्य सर्वज्ञ हैं । वे उस ज्ञान को अक्षर ब्रह्मादि द्वारा हिरण्मयकोष की उद्भवकाल में महाविष्णु को अर्पण करते हैं, विष्णु विराट् को, विराट् ब्रह्मादि को, ब्रह्मादि मनु आदि को वे देव भी, मनुष्य आदि को । इस प्रकार से नित्यज्ञानात्मिका विविध विद्याओं की पराम्परा ब्रह्मादि से अवतरित है। इसलिए उनसे कृत वेदशास्त्रादि अनित्य या भ्रान्ति प्रयुक्त नहीं है । सुतरां प्रामाण्य रूप है ।।२६।।

ईश्वर शब्दार्थ का विस्तार पूर्वक व्याख्यात हुआ । अभी उनका प्राणिधान का व्याख्यान निमित्त प्रणिधान का अंग रूप मन्त्र को दिखाते हैं –

तस्य वाचकः प्रणवः ।।२७।।

परमेश्वर का वाचक- अभिधान, प्रणव ऊँकार है । परमेश्वर वाच्य, ऊँकार वाचक, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शक्ति । शट्यात्मक सम्बन्ध से ही शब्द निज अर्थ को बोध कराते हैं । कोई कहते हैं, वह शक्ति इच्छामात्र है । उससे आधुनिक शब्द का भी तत्तदर्थ बोधकत्व सुसम्पाद्य होता है । जहाँ भ्रमजन्य अर्थ का बोध होता है, वहाँ भी आधुनिक इच्छा ही शक्ति है । किन्तु इस प्रकार प्रणवादि शब्द में किसकी शक्तिरूप इच्छा स्वीकृत है? यदि वेद का उच्चारण करने वाले ब्रह्माजी का है, तो प्रकृतिलय में ब्रह्माजी का विनाश हो जाने पर फिर हिरण्मय को शान्तस्थ सृष्टि में परमेश्वर बोधकत्व प्राविर्भूत शब्दों का उत्पन्न नहीं होगा । उस समय हिरण्यगर्भान्तर उत्पन्न की इच्छा ही शक्ति है; ऐसी कल्पना युक्तियुक्त होगी । वैसा होने पर एक शब्द का ही विभिन्न इच्छा द्वारा विभिन्न वाचकत्व हो जायेगा । इस सृष्टि सम्बन्धी ब्रह्मा द्वारा स्व इच्छा से प्रयुक्त प्रणव, अन्य सृष्टि के ब्रह्मा द्वारा पुनः उनकी इच्छा से ब्रह्मभिन्न चेतन में या माया में प्रयुक्त होगा । यदि कहें परमात्मा द्वारा नित्यज्ञान ब्रह्माजी में अर्पित है, अतएव नित्य ज्ञानानुरूप हिरण्यगर्भ ज्ञान का वहाँ नियामक होने से वहाँ विभिन्न इच्छा नहीं होगी, अथवा प्रणव का ही वाच्यान्तर बोधकत्व प्राप्ति होगी । तब परमेश्वरीय ज्ञान अपेक्षाकृत लाघव होने से नियामक माना जाय तो वैदिक शब्दों में सर्वत्र परमेश्वर की इच्छा ही शक्ति ऐसा मानना चाहिए । उससे अन्यार्थवाचकापत्ति नहीं होगी । सुतरां परमेश्वर की

इच्छा ही शक्ति है, ऐसा जानना चाहिए। उस शक्तिरूप अनादि सम्बन्ध वाच्य-वाचक भाव परमेश्वर और प्रणव का कथन है। उससे प्रलयान्तर में विलीन शब्द भी भिन्न सृष्टि में नित्य परमेश्वर की इच्छा से आरूढ़ होकर ही आविर्भाव होगा, उससे यथार्थ वाचकत्व वहाँ अव्याहत रहेगा ॥२७॥ प्रणव के स्मरण के साथ ही जिसको सर्वज्ञादि गुणयुक्त ईश्वर की स्मृति उपस्थित हो जाती हो, वे ही विज्ञात वाच्य-वाचक भाव योगी, उनके लिए –

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

प्रणव के जप से और प्रणवार्थ ईश्वर के प्रणिधान से चित्त में एकाग्रता की प्राप्ति होती है। इसलिए कहते हैं – स्वाध्यायात्-निरन्तर प्रणव जप से चित्त की एकाग्रता सम्पन्न करें और एकाग्रतालब्ध अन्तर्दृष्ट से सूक्ष्म अर्थ का बोध हो जाने से प्रणव का जप करें। स्वाध्याय से योगोत्कर्ष और योगोत्कर्ष से स्वाध्यायोत्कर्ष, उससे अन्तराय समूह का तिरोहित होने पर प्रत्येक चेतन की स्फूर्ति होने पर सबीज निर्बीज समाधि के वाद अपवर्ग की प्राप्ति होती है ॥२८॥ ईश्वरप्रणिधान से योगी का प्रत्येकचेतनाधिगम और अन्तराय का अभाव हो जाता है –

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

प्रत्यक्- प्रतिव्यक्तिगत चैतन्य, आत्मगत दृष्टिचैतन्य का अधिगम उपलब्धि होती है और योग का अन्तराय का अभाव भी हो पाता है। किस प्रकार ? स्वरूप दर्शन ही प्रत्येक चेतनाधिगम। जैसे कि ईश्वर शुद्ध-गुणातीत, प्रसन्न-अविद्यादिहीन, केवल-कैवल्य प्राप्त, अनुपसर्ग, जाति-आयु-भोग रूप कर्मविषयक उस प्रकार इस आत्मा बुद्धि का प्रतिसंवेदी-बुद्धिवृत्ति प्रतिबिम्बोद्ग्राही उसका साक्षी अर्थात् जैसे ईश्वर शुद्ध्यादिगुणयुक्त है वैसा ही यह बुद्धि साक्षीपुरुष इस प्रकार अवधारण करते हैं, इस प्रकार जीव और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद निराकरण के लिए वैधर्म्य दिखाया गया ॥२९॥ चित्त का विक्षेप करने वाले कौन हैं ? कितने हैं ? सूत्र से बता रहे है –

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः ॥३०॥

चित्त का विक्षेप रूप अन्तराय नौ है। रज और तमकी अधिकता से चित्त का विक्षेप होता है, वे एकाग्रता-विरोधी होने से चित्त को विक्षिप्त करते हैं। व्याधि-धातुवैषम्य निमित्त ज्वरादि, स्त्यान – चित्त की अकर्मण्यता, उभयकोटि अवलम्बनात्मक ज्ञान – संशय, योग्यसाध्य है कि नहीं प्रमाद–अनवधारता, समाधि साधन में औदासीन्य, आलस्य– शरीर और चित्त का गुरुत्व जन्य योग विषय में प्रवृति का अभाव, अविरति– विषयों में वैराग्य नहीं होना, भ्रान्तिदर्शन–शुक्तिका में रजत जैसा विपरीत ज्ञान,

अलब्धभूमिकत्व–किसी निमित्त से समाधि भूमि का अलाभ, अनवस्थितत्व–भूमिका लाभ होने पर भी चित्त की उसमें प्रतिष्ठा नहीं होना, ये ही नौ योग का अन्तराय है ॥३०॥

केवल व्याधि आदि ही योग का अन्तराय नहीं, दुःखादि भी योग का अन्तराय हैं–

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।३१।।

प्रतिकूल वेदनीय दुःख आध्यात्मिक–शारीरिक व्याधिवशात्, मानसिक-कामादि जन्य, आधिभौतिक-व्यघ्रादिजन्य, आधिदैविक = ग्रहपीड़ादिजनित, ये दुःख प्राणी मात्र का प्रतिकूल वेदनीय अतः हेय है। दौर्मनस्य– इच्छा का अभिघात से चित्त का क्षोभ, अङ्गमेंजयत्व - अङ्गों का कम्पन, श्वास–प्राण वायु का भीतर प्रवेश करना, प्रश्वास– भीतर के वायु का बाहर निःसरण करना, ये सब भी चित्त विक्षेप का कारण है ॥३१॥

विक्षेप समाधि का विरोधी है, वैराग्य सहकृत एक तत्त्व का अभ्यास से निरोध करना चाहिए, इस विषय को उपसंहार कर रहे हैं–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।।३२।।

उस विक्षेपों के प्रतिषेध के लिए (दूरीभूत करने के लिए) एक ईश्वर में अभ्यास– प्रणिधान करना चाहिए। जब तक चित्त एकाग्र न हो तब तक निरन्तर चित्त को युक्त रखना चाहिए। इस विषय में क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध पूर्वपक्ष कर रहे हैं– चित्त विक्षिप्त हो नहीं सकता। क्योंकि जो सत् वह क्षणिक है "इस व्याप्ति से चित्त भी सत् स्वरूप क्षणिक होने से प्रतिक्षण भिन्न है, द्वितीय क्षण में वह ध्वंस हो जाता है और चित्त का विषय भूतपदार्थ समूह भी क्षणिक होने पर, प्रत्येक विषय में नियत चित्त का भी एक क्षण मात्रवृत्ति मानना होगा। इससे जब-जब जिस-जिस विषयक चित्त होगा, तब-तब वह यथार्थ एक विषय में ही एकाग्र होगा, न कि विक्षिप्त। अस्थिरता बहुल चित्त का यदि कदाचित् स्थिरता मानी जाय तो दो क्षण की स्थिरता बिना वह सम्भव नहीं, स्थितिक्षण के बिना भी विक्षेप विशिष्ट मानना सम्भव नहीं, सुतरां एकतत्त्वाभ्यास और वैराग्यादि साधन का अनुष्ठान निष्फल है। ऐसे प्रतिपक्ष करने पर उत्तर में कहते हैं– नहीं, अविक्षिप्तता के तुल्य अनेकाग्रता की भी प्राप्ति होगी। विषयान्तर से परावृत्त करके एक विषय में संलग्नत्व के अभाव से, विषयी के प्रति विषय कारण होने पर पहले अपेक्षमान समक्षण का भी अभाव हो जायेगा, और भी एक पदार्थ में विशेषण- विशेष्य-भाव रूप से अभ्यस्त चित्त की एकाग्रता सबको ही मानना पड़ता है, नहीं तो उसको निर्विकल्पक ज्ञान रूप से बाल मुकादि के ज्ञान की तरह मुग्ध चित्त से "यह अमुक वस्तु" इस प्रकार परिचय भी नहीं हो पायेगा, और परिचय के लिए तज्जातीय ज्ञान कारण होते हैं, उससे वैशिष्ट्य ज्ञान ही परिचय रूप होता है और चित्त का विषय परिचयात्मक रूप से विशिष्ट ज्ञानत्व स्वीकार करे तो दो क्षण स्थायी होने पर आपके

अभिमत क्षणिकत्व व्याहत हो जायेगा। यदि वहाँ भी क्षणिकत्व को स्वीकार करें तो विशिष्ट चित्तत्व व्याहत हो जायेगा; फलतः उभयत:पाशारज्जु, इस प्रकार से क्षण भंगवादियों के चित्त का अनैकाग्र्य और सम्मुग्धत्व की प्राप्ति होगी। इसके ऊपर क्षणिकवादी पुनः कहते हैं– चित्त क्षणिक है, इससे सम्मुग्धता और अनैकाग्र्यता दोष नहीं आवेगा। चित्त क्षणिक होने पर भी उसका प्रवाह अनादि होने पर क्षणिक विज्ञानधारा निराबाध है और इस प्रकार अनादि क्षणिक चित्तधारा में एकाग्रता की प्राप्ति होगी, उससे चित्त में क्षणिकत्व प्रत्येक क्षणवृत्ति होने से उस प्रवाह का चिरस्थायी रूप से एकाग्रता का आधीन होगा– इससे उभय ही समञ्जस है। इससे पूर्वोक्त दोषापत्ति नहीं होती। ऐसा कहने पर उत्तर में कहते हैं – क्या आपका चित्तप्रवाह चित्तात्मक या उससे भिन्न है ? यदि चित्तात्मक माने तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है, यदि भिन्न माने तो वह क्षणिक है कि अक्षणिक ? क्षणिक होने पर पूर्वोक्त दोष फिर भी रहता है, यदि अक्षणिक माने तो आपका अपना सिद्धान्त व्याघात हो जाता है, इस प्रकार का प्रत्यय असम्भव होने योग्य नहीं है जिससे व्याप्ति न हो सके। फिर यदि कहो कि – चित्तसन्तानों में पूर्व पूर्वस्थ संस्कार उत्तरोत्तर में अवतीर्ण होते हैं, उससे एकाग्रचित्त विशिष्ट ज्ञानात्मक रहते ही हैं, उससे पूर्वानुभूत का पाश्चाद् भी ज्ञान से एकाग्रता का विरोध नहीं है, ऐसा कहने पर उत्तर दे रहे हैं – इससे पूर्वास्था में अवस्थित विक्षेप द्वारा उत्तर चित्त सन्तानों में अवतरितों के साथ पुनः विक्षिप्त हो जायेगा, उससे आपका पूर्वपक्ष का आपकी युक्ति से ही खण्डन हो जाता है, और चित्त क्षणिक होने पर वाल्य में कृत अनुभवादि की वृद्धावस्था में स्मरण नहीं होगा, क्योंकि उस समय अनुभवकर्ता तो रहते नहीं। यह भी नहीं कह सकते एक अनुभव करे, दूसरा स्मरण करें – इसमें अव्यवस्थाप्रसंगादोष है। यह भी नहीं कह सकते कि पूर्व-पूर्व विज्ञान का संस्कार समूह उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रान्त हो जाय तो, संस्कार समूह का स्वकारण अधिकरण में ही अवस्थित होने के नाते निष्क्रिय रूप होने से अन्यत्र गमन असम्भव है। इस प्रकार देहान्तर में कृत कर्मों का देहान्तर में योग भी उचित नहीं। सुतरां चित्त को सर्वदा स्थायी एकत्व स्वीकार करना ही होगा। इससे सब प्रकार के व्यवहार कालान्तरीय अनुभव और स्मरणादि की भी उत्पत्ति हो जाती है। विक्षेप और एकाग्रतावस्था भी उत्पन्न हो जायेगा और विक्षेपों के विनाश के लिए साधना का अनुष्ठान भी सफल हो जायेगा ॥३२॥

चित्त की स्थिरता दृढ़ीकरण के लिए तीन सूत्रों से उपायों का निरूपण करते हुए प्रथम चित्त प्रसादात्मक उपाय बता रहे हैं –

**मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।३३।।**

उसमें सुख-दुःख पुण्यापुण्य विषयों का मैत्री-करुणा-मुदिता उपेक्षा वालों की भावना से चित्त का नैर्मल्य होता है। भावना-चित्त में पुनःपुनः अवतरण । यथाक्रम-सुख विषयक सुखियों में सत्त्वांशमात्र अन्वित होने पर मैत्री सौहर्द की भावना से ईर्षा रूप कालुष्य का नाश, दुःख विषयक दुःखियों में रजो अंशमात्र अन्वित होने से करुणा– अपने जैसा दूसरों में दुःख की प्रहाणेच्छा की भावना से परोपकार रूप कालुष्य नष्ट हो जाता है, पुण्यशील मनुष्यों में मुदिता – हर्ष की भावना से असुया नामक कालुष्य का नाश हो जाता है । अपुण्यशील प्राणियों में उपेक्षा-माध्यस्थ की भावना से अमर्ष रूप कालुष्य का नाश हो जाता है । इस प्रकार से राजसतामसधर्मी के निवृत्त होने पर शुक्ल सात्त्विक धर्म का उद्भव होता है, सत्त्वोत्कर्ष सम्पन्न होने से चित्त प्रसन्न हो जाता है । चित्त प्रसन्न हो जाने पर वक्ष्यमान उपाय से एकाग्र स्थिति प्राप्त होती है । इस प्रकार से पुनःपुनः समाधि के लिए अनुष्ठान करना चाहिए ।।३३।। उपायान्तर कह रहे हैं –

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।।३४।।

प्रच्छर्दन – कोष्ठस्थित वायु को प्रयत्न विशेष के द्वारा के मात्रा प्रमाण से बाहर निःसारण, विधारण– मात्रा प्रमाण से ही प्राणवायु का बहिर्गतिविच्छेद, यह दो प्रकार के हो सकते हैं– एक तो बाहर का आभ्यन्तर पूरण से है दूसरा – पूरित वायु का वहाँ पर निरोध से, इस प्रकार रेचक पूरक कुम्भक भेद से विविध प्राणायाम चित्त की स्थिति एकाग्र रूप से निंबन्धन करते हैं । सारी इन्द्रिय वृत्ति समूह प्राणवृत्ति पूर्वक ही होती है। मन और प्राण का अपना व्यापार में परस्पर एक योगक्षेम होने से जीव मन प्राण समस्त इन्द्रिय वृत्ति निरोध पूर्वक चित्त को एकाग्र करता है । इसका समस्त दोषक्षयकारित्व भी आगम में श्रुत है । सारी विक्षेप की वृत्तियाँ दोष के कारण ही होती हैं । चित्त की एकाग्रता के लिए दोषों को विदूरित करने का सामर्थ्य होता है ।।३४।। अभी उपायान्तर का प्रदर्शन करते हुए सम्प्रज्ञात समाधि के पूर्वांग का कथन कर रहे हैं–

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी ।।३५।।

विषय– गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दादि जिस वृत्ति के फल रूप से रहते हैं, वह विषयवती प्रवृत्ति मन में स्थिरता लाती है । जैसे – नासाग्र में चित्त धारण करने से दिव्य गन्धसंवित् उत्पन्न होती है, ऐसा ही जिह्वाग्र में धारण से रससंविद् का साक्षात्कार होता है, तालु का अग्रभाग में धारण से रूपसंवित्, जिह्वा मध्य में धारण से स्पर्शसंविद्, जिह्वामूल में धारण से शब्दसंवित्, इस प्रकार से तत्-तत् इन्द्रियद्वार में धारण करने से चित्त तत्-तत् विषय में दिव्य भाव का उत्पन्न होने पर चित्त की स्थिति निष्पन्न होती है,

क्योंकि आह्लादकर विषय में मन स्वभावतः ही प्रवृत्त हो जाता है, उससे संशय का भी छेदन हो जाता और समाधि प्रज्ञा का पूर्वाभास प्राप्त होता है। जब तक किसी एक देश में योग का साक्षात्कार न होवे तब तक वह परोक्ष ही रहता है, इसलिए उसको दृढ़ीकरण के लिए वशीकार संज्ञक वैराग्य नियत रूप से अभ्यास करते रहना चाहिए। उससे जब दिव्य गन्धादि का प्रत्यक्ष होने लगेगा, तब वे ही संप्रज्ञात समाधि का आनयन करेंगे। इस प्रकार से योगी कैवल्याभिमुखी होकर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधि बिना प्रतिबन्ध प्राप्त हो जायेगा ॥३५॥ इस प्रकार से उपायान्तर का कथन कर रहे हैं –

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

ब्रह्मानन्द का उद्रेक से हृदय में शोकदुःखहीन ज्योतिर्मय बोध समूह उत्पन्न होते हैं। कैसे - हृदय में ध्यानगम्य जो बोधस्थान, (न कि मांसमय पिण्ड) में चित्त को धारण करने से निश्चयात्मक अन्तर्बोध रूप ज्ञान का व्यापार स्मृति रूप से उत्पन्न होता है। इस स्थिति की वैशाद्य से प्रकाशशील आकाशकल्प निरावरण अबाध स्थिति प्रवाह से प्रकृष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है। वह पहले सूर्य-चन्द्र-ग्रह-मणिप्रभा रूप से दर्शन होता है। वही बुद्धिसत्ता की स्थिरता के साथ-साथ दिगवयवहीन रूप से प्रकट होता है। उसका ध्यान करने से ज्योति व्यापक रूप धारण करती है, और सूर्यादिका कल्पित रूप का त्याग कर, एकमात्र अस्मिता समापन्न चित्त निस्तरंग महोदधिकल्प वितर्क तरंग रहित असंकुचित वृत्ति वाला-शान्त अनन्त अबाध-सीमाज्ञानहीन, न कि बृहत् देशव्याप्त, अस्मितामात्र सूर्यप्रभादि वैकल्पिक भावहीन अहम्बोध रूप हो जाता है। इस स्वरूपास्मिता रूप उपलब्धि के विषय को पंचशिखाचार्य के सूत्र द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं– तमणुमात्रम् = अणुवत् व्याप्तिहीन अभेद्य, आत्मानम्-महान् आत्मा को, अहं बोध का वहाँ अंहकृति रूप होने से उसका संकुचित वृत्ति का अभाव होने के नाते महत् संज्ञा दिया गया है, न कि बृहत् होने से, अनुविद्य–नाना अहंकारहीन, रूपादि विषयहीन और अन्तरतम ज्ञानरूप से उपलब्धि करके अस्मि इस प्रकार विकारहीन अस्मिता मात्र का सम्यक् प्रज्ञान को लाभ करते हैं। यही सास्मित सम्प्रज्ञात काल लक्षण है। इस विशोका दो प्रकार के हैं। एका विषयवती– प्रभा आदि करके विकल्पित अस्मितारूप, अन्या– अस्मितामात्र व्याप्ति प्रभादिग्राह्य भावहीना अणुवत् सूक्ष्मा अभेद्या, ग्रहणमात्ररूपा अस्मिता। उन दोनों को योगी लोग ज्योतिष्मति कहते हैं, जिसलिए सात्त्विक प्रकाश प्रचुर युक्त है। उस ज्योतिष्मति के प्रवृत्ति द्वारा योगियों का चित्त स्थिति को प्राप्त हो जाता है ॥३६॥ उपायान्तर को कहते हैं –

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७॥

वीत = विलीन, राग = स्थूल-सूक्ष्म दिव्यादिव्य विषयों की आकांक्षा जिसका वीतराग विषय चित्त अर्थात् वशीकार संज्ञा वैराग्ययुक्त सनकादि के चित्त को आलम्बन

करके धारणा द्वारा तदाकार को प्राप्त करने पर स्वकीय चित्त भी शीघ्र स्थिर हो जाता है। इस प्रकार होने से विवेकख्याति द्वारा असंप्रज्ञात लाभ में योग्यता प्राप्ति कर लेते हैं ॥३७॥ उपायान्तर कह रहे हैं–

स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं वा ॥३८॥

स्वप्नज्ञानालम्बन – स्वप्न में अन्तःप्रज्ञ वहिरुद्ध ज्ञान होता है, प्रपञ्चज्ञान में भी उसी को आलम्बन करके अर्थात् उस प्रकार कल्पित विषय का आलम्बन करके अभ्यास करने से किसी का चित्त स्थिति लाभ करता है। वैसा निद्राज्ञानालम्बन निद्रा = स्वप्नहीन सुषुप्ति, उस समय न अन्तःप्रज्ञ न बहिप्रज्ञ जो अस्फुट ज्ञान उसका आलम्बन करके चित्त का अभ्यास से भी किसी की स्थिति लाभ होती है ॥३८॥

प्राणियों की रुचि भिन्न-भिन्न है, इसलिए योगियों को जिस किसी वस्तु में श्रद्धा हो उसके ध्यान से भी इष्ट सिद्धि करने के लिए कहते हैं–

यथाऽभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

यथाभिमत वस्तु – बाहर चन्द्रादि, भीतर नाड़ी चक्रादि अथवा तत् तत् इष्ट देवतादि के ध्यान से भी स्थिति लाभ होता है और स्थिति लाभ के बाद अन्यत्र तत्त्व विषय में अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग लाभ करते हैं, क्योंकि सम्प्रज्ञात योग के बिना असम्प्रज्ञात नहीं हो सकता ॥३९॥ इस प्रकार धारणाध्यानसमाधि द्वारा सीमारहित स्थिरता प्राप्त चित्त वाले पुरुष का सर्वत्र लौकिक-अलौकिक स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों में उपाय का प्रदर्शन करते हुए फल कथन कर रहे हैं–

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

इस प्रकार स्थिति प्राप्त चित्त का परमाणु और परममहत्त्व जब अव्याहत प्रचार होता है उस समय वशीकार अर्थात् सम्यग् अधीन होने से अभ्यास की समाप्ति होती है। परमाणु अन्त–जहाँ सूक्ष्मत्व की पराकाष्ठा; परममहत्व अन्त–जहाँ स्थूलता की पराकाष्ठा। इस प्रकार स्थूल या सूक्ष्म में निविशमान चित्त सर्वत्र प्रतिघात वर्जित स्थिति को प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थूल-सूक्ष्म रूप कोटिद्वय में विचरणशील मन का जो प्रतिघात रहित स्थिरी भाव, उसी को वशीकार संज्ञा कहते हैं। ऐसा चित्त आत्मा में या परमात्मामें निवेश होने मात्र से उसमें स्थिर होने से स्वरूप प्रदर्शन रूप योगफल को प्राप्त कर लेता है। अतः स्थिरताकी पराकाष्ठा प्राप्त चित्तका फिर अभ्यासान्तरकी प्रयोजनता नहीं रहती ॥४०॥

इस प्रकार चित्तस्थिति का उपाय बतलाकर स्थिति लब्ध योगी का वशीकार भी दिखाए, सम्प्रति स्थितिलब्ध चित्त का क्या विषय और कैसा सम्प्रज्ञात होता है, उसको

कहते हैं–

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।।४१।।

स्वच्छ सुनिर्मल स्फटिकमणि जैसे जपाकुसुमादि के उपाश्रय से तद्रूपापन्न हो जाते हैं, वैसे ही अभ्यास-वैराग्य से या उपायान्तर से जिस स्वभाविक स्वच्छ चित्त की सारी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गयी, उसके ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य विषयों में एकाग्रता और तदाकारता रूप परिणामता होती है। यहाँ ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य स्थान पर ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृ ऐसा क्रम होना चाहिए। क्योंकि प्रथम स्थूल ग्राह्य घटपटादि विषयों में प्रेयमाण चित्त तदुपरक्त और तत् समानाकार में परिणत होता हुआ उसी में एकाग्र हो जाता है, परममहत भूतों में– हिरण्मय कोश पर्यन्त ग्राह्य विषयों में प्रेयमान चित्त तदुपरक्त और तत् समानाकार परिणत होता हुआ उसमें एकाग्र हो जाता है। वैसे ही सूक्ष्म परमाणु आदि ग्राह्य विषयों में प्रेयमान चित्त तदाकार होता हुआ एकाग्र हो जाता है– यही सवितर्क संप्रज्ञात समाधि है। इसी प्रकार ग्रहण रूप सूक्ष्म इन्द्रियों का सन्निकर्ष में और मन बुद्धि अहंकार में प्रेयमाण चित्त तत्तदाकार होता हुआ एकाग्र हो जाता है। इसी को सविचार सम्प्रज्ञात कहा गया है। सात्त्विक अहंकार स्थित सत्त्वगुणमात्र में स्थिर करना सानन्द सम्प्रज्ञात कहे जाते हैं। इस प्रकार ग्रहीता-जो कोई भी समाधिस्थ पुरुष स्वयं मुक्त योगी और परमेश्वर में भी वहाँ प्रेयमाण चित्त तत् तत् चेतनोपरक्त और तदाकार होता हुआ वहाँ एकाग्रता लाभ करता है। वहीं बुद्धि चेतन प्रतिबिम्ब संयोगरूप एकता करणात्मक– सास्मित सम्प्रज्ञातसे भी अधिक-आत्म मात्र सम्प्रज्ञात कहे जाते हैं ।।४१।।

समापत्ति का सामान्य लक्षण कहकर विशेष लक्षण बता रहे हैं–
विषय और प्रकृतिभेद से समापत्ति चार प्रकार के हैं। यथा – सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा। उनमें सवितर्का का लक्षण कह रहे हैं–

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।।४२।।

शब्द-अर्थ और ज्ञानों का विकल्प भिन्नों का अभेद रूप से अवधारण सकीर्णा सवितर्का समापत्ति। भाव - सर्वत्र लौकिक-अलौकिक उभयविध पदार्थ व्यवहार में प्रथमतः संकेत ज्ञानवान् पुरुष द्वारा घट अर्थ का अवलम्बन करके "घट"इत्याकार वाचक शब्द का प्रयोग करते हैं, उससे घटत्व प्रकारक घट विशेष्यक घट शब्द जन्य 'घट' इस प्रकार ज्ञान-शाब्दबोध होता है। उस प्रकार ज्ञान से कम्बुग्रीवादिमान पृथूदर जल आहरण योग्य घट पदार्थ मध्यस्थ का अधिगत होता है। इससे घटरूप शब्द, घटरूप शाब्दबोध और घटरूप वस्तु तीनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। अविनाभाव अर्थात् संकेत, वे सब इतरेतर अध्यासात्मक, उससे तीनों का संकीर्णता-

मिश्रभाव होता है। ये तीनों वस्तुतः स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न स्व स्व धर्म में विद्यमान रहते हैं, जैसे शब्द– तारत्व मन्दत्वादि शब्द-धर्म समूह भिन्न ही है, प्रकाशत्वज्ञानत्वादि शाब्दबोधधर्म भिन्न ही है, जड़त्व-मूर्तत्वादि वस्तु धर्म भी भिन्न है। उस-उस व्यावर्तक धर्मद्वारा शब्द और उसका ज्ञानरूप वस्तुएँ भिन्न-भिन्न ही व्यवस्थित होते हैं। उस भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संकीर्ण अर्थात् व्यामिश्र रूप से जो अवधारण वही सकीर्णा सवितर्का समापत्ति समाधि है ॥४२॥

सूत्रान्तर की योजना के लिए प्रथम निर्वितर्का स्थूल समापत्ति का व्याख्यान करते हैं – जब नाम वाक्यरहित ध्यानाभ्यास से वास्तव ध्येय विषय को वाग्वियुक्त रूप से जाना जाता है, तब शब्द संकेत स्मृति परिशुद्धि होती है। उस समय उस प्रत्यक्ष विज्ञान सविकल्प शब्दानुविद्ध श्रुत अनुमान ज्ञान द्वारा मलिन नहीं होते, अर्थ समाधि प्रज्ञा में निर्विकल्प स्वरूपमात्र में अवस्थान करते हैं, वैसा स्वरूपमात्र रूप में ही अवच्छिन्न होते हैं अर्थात् वास्तव रूप मात्र में ही भान होता है, उसमें कोई असत् पदार्थ भी रहता है– उसी को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। उस पर प्रत्यक्ष समाधि से उत्पन्न होने के कारण अमिश्रित होता है, वह भी तत्त्वज्ञान और विषयक होने से श्रुत और अनुमान का बीज– मूल है। वैसे साक्षात्कार वाले योगियों द्वारा ही तत्त्वविषयक श्रुत अनुमान में प्रवृत्ति होती है। शब्द संकेतहीन होने से वह दर्शन श्रुत-अनुमान ज्ञान सहभूत नहीं होता। सुतरां निर्वितर्क समाधि से उत्पन्न दर्शन प्रमाणान्तर से असंकीर्ण होता है, इस प्रकार निर्वितर्का समापत्ति के सूत्र द्वारा लक्षण बता रहे हैं–

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का ॥४३॥

स्मृति परिशुद्धि में - वाग्रहित अर्थ चिन्तन सामर्थ्य से उत्पन्न, स्वरूप शून्य की तरह– 'अहं जानामि' इस प्रज्ञा – स्वरूपशून्य जैसा न कि वस्तुतः उससे शून्या- अर्थमात्र निर्भासा– नामादिहीन ध्येय विषयमात्र द्योतन करने वाली समापत्ति निर्वितर्का स्थूल विषया।

व्याख्यान– श्रुत और अनुमान ज्ञान शब्द और संकेत की सहायता से उत्पन्न होते हैं– उसके बाद विकल्प से अनुबिद्ध होने में शब्दहीन होने पर विकल्पादि स्मृति शुद्धा होती है। जब अर्थ ज्ञानकाल में तत् तत् स्मृति उपस्थित होती है तब केवल ग्राह्य उपरोक्ताग्राह्य वस्तु की निर्भासा होती है। ग्राह्य का अर्थ ध्येय का विषय न कि भूतसमूह स्थूल ग्रहण का भी वितर्कानुगत होने से, अपना प्रज्ञारूप ग्रहणात्मक को त्यागकर जैसे– 'अहं जानामि' इस प्रकार आत्मस्मृतिहीन विषय मात्रावगाही। इसका पातनिका में व्याख्या हो चुका है। निर्वितर्का एक बुद्धि आरम्भक, न कि नाना परमाणु रूप, उस ध्येय विषय यह एक रूप ऐसा होता है। वाह्य वस्तुरूप न कि विज्ञान मात्र अणु प्रचय विशेषात्मा– शब्दादि तन्मात्रारूप अणु शब्दादिज्ञानों का यावत् जो प्रचय विशेष– स्थूल परिणामरूप समाहार विशेष वही जिस आत्मा का स्वरूप ऐसा गौ या घटादि अथवा

लोक चेतना चेतन लौकिक विषय। वह घटादि रूप परमाणु संस्थान विशेष भूत सूक्ष्म तन्मात्राओं का साधारण धर्म– प्रत्येक तन्मात्रा का धर्म वहाँ साधारण- एकीभूत, ऐसे तन्मात्रा रूप कारणों से उसका विशेष कार्य का कथंचिद् भेद, आत्मभूत- तन्मात्रा शब्दादि का अनुगत शब्दादिमान ही न कि अन्य धर्मवान् इस प्रकार (कार्य) कारण से अभेद, द्रव्यों का ज्ञान व्यक्त फल और उसका व्यवहार द्वारा अनुमान किया जाता है, अणुप्रचय भी अणुओं से यह घट अभिन्न है, इस प्रकार घट का व्यवहार द्वारा अनुमान व्यक्त होता है, और स्व स्व व्यञ्जकाञ्जन– स्वव्यञ्जक कारण कलाप द्वारा अभिव्यक्त संस्थान विशेष का प्रादुर्भाव और तिरोभाव है, न कि अभाव , इस निमित्त से संस्थान का अन्यथाभाव हो जाता है। वही तिरोभाव है न कि अभाव। वही संस्थान विशेष रूप धर्म अवयवी रूप से कहे जाते हैं। अत: जो एकत्व बुद्धिनिष्ठ, महान्, अणीयान्, स्पर्शवान्, शब्दादिधर्म का आश्रय, क्रियाधर्मक (जलधारणादि क्रिया धर्मक) अनित्य, वह अवयवी रूप से व्यवहार किया जाता है। उसमें वैनाशिकों की अयुक्तता दिखाते हैं – जिसके न्याय में स्थूल विकार रूप प्रचय विशेष अवस्तुक (शून्य मूलक धर्मस्कन्धमात्र है) उस प्रचय का सूक्ष्म वास्तव कारण (भूतादि कार्य का तन्मात्रादिरूप कारण) विकल्पहीन निर्वितर्क निर्विचार समाधि है। यहाँ सूक्ष्म विषय से निर्विचारा विवक्षित है, वह अनुपलभ्य-साक्षात्कार के अयोग्य– बौद्धमत में प्राय: सभी वस्तु ही मिथ्याज्ञानरूप, क्योंकि उनका अवयवी होता ही नहीं, उनकी समाधिज्ञान अतद्रूप प्रतिष्ठ-अनवयवी में अवयवी प्रतिष्ठित हैं, अत: मिथ्याज्ञान होगा। इस प्रकार प्राय: सब ही मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार सब में मिथ्यात्व प्राप्त होने पर आपको किसका सम्यग् दर्शन होगा ? अर्थात् विषय के अभाव से ज्ञानाभाव ही सम्यग् दर्शन है। जो जो उपलब्ध है, वह सब अवयवी रूप से ही है, सुतरां आपके सम्मत अनवयवी विषय जो निर्वितर्क का विषय है, वह नहीं है। अतएव आपको मानना पड़ेगा निर्वितर्क का अवयवीरूप विषयवस्तु यथार्थ ज्ञान का विषय है। यहाँ सत्य (यथार्थ) पदार्थ विचार योग्य है– वाक् का विषय तथा ज्ञान का विषय यदि माना जाय, जैसा अर्थ वैसा ही उसका वाक्य और ज्ञान को भी यथार्थ कहा जाता है। यह सत्य दो प्रकार के हैं, व्यवहारिक विषय में व्यवहारिक सत्य और मोक्ष के विषय में पारमार्थिक सत्य। ये दोनों आपेक्षिक और अनापेक्षिक भेद से दो प्रकार के हैं, किसी की अपेक्षा करके जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान आपेक्षिक है, उसका भाषण भी आपेक्षिक सत्य है। करण का उत्कर्ष की अपेक्षा करके उत्पन्न ज्ञान को उत्कृष्ट यथार्थ ज्ञान माना जाता है, उसमें तत्त्व का ज्ञान को चरम सत्यज्ञान माना गया है। समाधि में चरमस्थिरता और स्वच्छता है, उससे एकाग्रभूमिक समाधि जो प्रज्ञा वह चरमोत्कर्ष सम्पन्ना है। इस सवितर्क-निर्वितर्क समाधि में उस आलम्बन का चरमा स्थूलविषया यथार्थ प्रज्ञा है; सविचार निर्विचार

समाधि में भी सूक्ष्म विषया प्रज्ञा, यथार्थ उसी को योगीलोग ऋतम्भरा कहते हैं। उसमें तत्त्वविषयक आपेक्षिक सत्य समूह परमार्थ का उपायभूत होते हैं, इसलिए उनको परमार्थ सत्य कहते हैं। परमार्थ सत्य में जो उपेयभूत है, उसको कूटस्थ-द्रष्टा-पुरुष कहते हैं। सुतरां तद्विषयक अनापेक्षिक नित्य वस्तु विषयक ज्ञान ही कूटस्थ सत्य ज्ञान है। उसी से कूटस्थ साक्षात्कार या कैवल्य प्राप्त होता है। नित्य वस्तु विषयक अनापेक्षिक हो। वे भी दो प्रकार परिणामि–नित्य वस्तु विषयक त्रैगुण्य तथा अपरिणामि–नित्य वस्तु विषयक कूटस्थ वस्तु विषयक भी होते हैं ॥४३॥

इस प्रकार दो सूत्र द्वारा स्थूल विषय में समापत्ति का दो विभाग करके दिखाए, अभी सूक्ष्म विषय में भी उसका द्वैविध्य दिखा रहे हैं -

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

सवितर्क निर्वितर्क रूप स्थूल विषयक समापत्ति से सविचार-निर्विचार रूप सूक्ष्म विषयक समापत्तिद्वय भी व्याख्यात हुआ।

अभिव्यक्त घटादिधर्म द्वारा उपगृहीत ऊपरी अध:पार्श्वादि देश, वर्तमानादि काल, निमित्त–पार्थिव परमाणु का गन्ध तन्मात्रा की प्रधानता से पञ्चतन्मात्रा से उत्पत्ति, इस प्रकार जलीय परमाणु का गन्ध तन्मात्रा वर्जित रसतन्मात्रा की प्रधानता से चार की, तैजस परमाणु गन्ध रस तन्मात्रारहित रूप तन्मात्रा की प्रधानता से तीन का, इस प्रकार वायवीय परमाणु का गन्ध रस-रूप तन्मात्राओं से रहित स्पर्श तन्मात्रा की प्रधानता से दो का, आकाश का शब्द तन्मात्रारूप एक से ही ये सब भूत सूक्ष्म के निमित्त होते हैं। इन देश-काल निमित्त अनुभव द्वारा अवच्छिन्न है, न कि अननुभूत विशेषण द्वारा बुद्धि विशेषित होकर उत्पन्न होती है। यदि पूछें सवितर्क के साथ सविचार का क्या सारूप्य है? उत्तर– पार्थिव परमाणु ही पंचतन्मात्रा प्रचयात्मक बुद्धि निर्ग्राह्य है, इस प्रकार जलीय आदि भी चार तीन दो एक तन्मात्राओं की एक बुद्धिनिर्ग्राह्या जानना चाहिए, उदित-वर्तमान धर्म द्वारा विशिष्ट है, एतद्द्वारा यहाँ संकेत-स्मृति-आगम अनुमान का अनविकल्प अनुवेद्य सूचित होता है। परमाणु समूह प्रत्यक्ष स्थूलदृष्टि से प्रकाशित नहीं होते परन्तु आगम-अनुमान से ही जाना जाता है। इसलिए इसकी संकीर्णता उपपन्न ही है। निर्विचार को दिखाते हैं – जो कि पुन: सर्वथा = सम्यगनवच्छिन्ना सर्वतदेशानुभव अनवच्छिन्नत्व, शान्तेदित अव्यपदेश्य धर्म अनवच्छिन्न में विषय का सर्वधर्म अनुपातिओं में कालानुभव अनवच्छिन्नत्व, सर्वधर्मात्मकों में निमित्तानुभव में अनवच्छिन्नत्व, इस प्रकार अवच्छेदरहित शब्दादि विकल्पहीन प्रज्ञासमापन्नता ही निर्विचारा समापत्ति है और भी वहाँ महावस्तुविषया– स्थूलभूतेन्द्रिय विषया, सूक्ष्मविषया– तन्मात्रादिविषया, इस प्रकार निर्वितर्क और निर्विचार दोनों को दिखाए, निर्वितर्क से विकल्प हानि– शब्दार्थ ज्ञान विकल्पशून्यता व्याख्यान किया गया ॥४४॥ सूक्ष्मविषयों में उसकी अवधि कहाँ

है –

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।।४५।।

सविचार निर्विचार समापत्तियों का सूक्ष्म विषयत्व कहा गया, वह अलिंग पर्यवसान है । अलिंगप्रधान, क्योंकि वह कहीं लीन नहीं होता न किसी को जानता है, इसलिए प्रधान सूक्ष्म विषयों की अवधि है । उसको दिखाते हैं– गुणों का परिणाम में चार पर्व होते हैं– १. विशिष्ट लिंग, २. अविशिष्ट लिंग, ३. लिंगमात्र ४. अलिंग ।

विशिष्ट लिंग = भूतवर्ग, अविशिष्ट लिंग = तन्मात्र, इन्द्रिय समूह, लिंगमात्र = बुद्धि, अलिंग = प्रधान । इसके बाद और सूक्ष्मता नहीं है । यदि कहें पुरुष उससे भी सूक्ष्म है तो उत्तर – उपादान रूप से ही सूक्ष्मता की अवधि प्रधान है – अन्यत्र नहीं । पुरुष कारण तो है, किन्तु उपादान नहीं है, जैसा प्रधान महदादिरूप से परिणाम प्राप्त होता है, पुरुष वैसा हेतु नहीं है – इसलिए प्रधान की ही सूक्ष्मता है ।।४५।।

इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत वितर्का के भेदद्वय कहे गये, विचारा का भी भेदद्वय कहे गये, उभय मिल कर चार होते हैं-

ता एव सबीजः समाधिः ।।४६।।

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार ये चार प्रकार समाधि को सबीज सम्प्रज्ञात समाधि कहे जाते हैं । जिसलिए उसमें स्थूल-सूक्ष्म विषयों में धारण द्वारा चित्त का स्थैर्य होने पर प्रमाणादि वृत्तियों का उद्भव न होने से अविद्या आदि क्लेश समूह प्रादुर्भूत नहीं होते, किन्तु स्वकारण चित्तवृत्ति में तिरोभूता रहती है, अतएव बीजभाव रूप से स्थित रहते हैं, इसलिए सबीज-समाधि कहे जाते हैं । इस प्रकार से ये सम्प्रज्ञात योग छह भागों में विभक्त हैं– सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, आनन्द और सास्मित । उसमें ग्राह्य स्थूल विषयक-सवितर्क, निर्वितर्क ग्रहण सूक्ष्म इन्द्रियादि विषयक-सविचार-निर्विचार, अहंकारगत आनन्दमात्र विषयक-सानन्द, बुद्धि और चेतन स्वरूप का ऐकात्म्यमात्र विषयक-सास्मित । उसमें चार ही सबीज है, अन्य दो नहीं । यद्यपि सानन्द शेष सास्मित के समय में भी क्लेश आदि बीजरूप से हुआ करते हैं– किन्तु निर्विचार पर्यन्त ही क्लेशादि अक्षत बीजभाव में रहते हैं । निर्विचारा से भी तत्त्वज्ञान उत्पन्न होते हैं, तत्त्वज्ञानाग्नि से भी सानन्दाख्य समापत्ति काल में क्लेशादि का बीजभाव का दग्धभाव आरम्भ हो जाता है, इस प्रकार से सास्मित काल में भी दाहप्रवाह चलते रहते हैं, उससे विवेकख्याति होती है और विवेकख्याति बीज को पूर्णरूप से दग्ध कर डालती है, उस समय असम्प्रज्ञात समाधि होती है । सुतरां विरोधी ज्ञानाग्नि से क्लेश और बीज भर्जित हो जाने पर उस समय सबीजत्व कहना ठीक नहीं, इस अभिप्राय से चार का ही सबीजत्व ज्ञापन करने के लिए सूत्र में "ता एव" ऐसा एवकार

का ग्रहण किया। सुतरां सब ही सम्प्रज्ञात सबीज, इस प्रकार उपचार रूप से कहे गये हैं ॥४६॥

ग्राह्य विषयक चार प्रकार समापत्तियों में निर्विचारा का केवल सूक्ष्म एक पदार्थ मात्र का असंकीर्णता रूप से साक्षात्कार का करणरूप होने के नाते उसका औरों से विशेष दिखा रहे हैं–

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

निर्विचारा का वैशारद्य - रजतमसमुत्पादक पापादिलक्षण मलरहित प्रकाश स्वभाव बुद्धिसत्त्व का स्वच्छ, ध्येयगत अशेष-विशेष प्रतिबिम्बोद्ग्राही एकाग्रता धाराप्रवाहरूप स्थिति होने पर शुद्ध तत्त्वज्ञान का आविर्भाव होता है, उससे प्रकृति से उत्पन्न यावत् पदार्थ में सुखदुःखमोहात्मक दृष्टि से घृणा होती है। उस कारण से मायामय पदार्थों को त्यागकर केवल आनन्दमात्र प्राप्ति के लिए सानन्द सम्प्रज्ञातयोग से यत्न करते हैं। फिर तत्त्वज्ञान से आनन्दमात्रा को भी बुद्धि धर्मात्मक देखकर घृणाबुद्धि से उसको भी त्यागकर नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव अपनी आत्मा के प्रति चित्त का प्रवाह अस्मिता योगात्मक होते हैं। उस ज्ञानालोक का प्रकर्ष से आत्मा को सर्वोपरि देखता हुआ त्रिविध दुःखों से दुःखसमुद्र में मग्न सब जीव समूह को देखता है और निर्विचार वैशारद्य उत्पन्न होने पर स्वयं ही पुरुष-प्रकृति विवेकपूर्वक परमेश्वरतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, न कि उस साक्षात्कार के लिए पुनः योग की अपेक्षा रहती है, निर्विचारा का विशेष उत्कर्ष है ॥४७॥ अध्यात्म प्रसाद उत्पन्न होने पर –

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होने पर जो प्रज्ञा - स्वात्मविषयक साक्षात्कार - प्रज्ञालोक, वह ऋतम्भरा है। ऋत-सत्य-यथार्थ आत्मस्वरूप को बुद्ध्यादि से भिन्न करके धारण करता है वह ऋतम्भरा, कदाचित् भी विपर्यय से आच्छादित नहीं होता। इस प्रकार प्रज्ञालोक से परमपुरुषार्थात्मक सत्य अर्थ को अर्थात् बुद्ध्यादि से व्यतिरिक्त आत्मविषयज्ञानको ही यथावत् देखता हुआ योगी प्रकृष्टयोगको प्राप्त करते हैं ॥४८॥

यदि कहें आगम और अनुमान भी प्रमाण रूप होने से उसी से विषयक तत्त्व गृहीत हों, योग का क्या प्रयोजन है ? इस आशंका का उत्तर दे रहे हैं —

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ॥४९॥

विशेष विषय समाधि सामान्य से उत्पन्न प्रज्ञा श्रुत और अनुमान रूप प्रज्ञा से अन्य विषयक अर्थात् अतिरिक्त विषयक है, विशेषार्थक होने से, विशेष अर्थविषय (आत्मा) रूप होने के कारण।

श्रुत आगमविज्ञान, सामान्य विषयक होते हैं, सामान्य विशेष भी अनन्त

वैचित्रात्मक होते हैं, सुतरां शब्द द्वारा उसका कथन हो नहीं सकता, क्योंकि शब्द द्वारा सामान्य विषय को ही संकेत किया जाता है। सुतरां शब्दजन्य आगमविज्ञान सामान्यविषयक होते हैं। अनुमान भी वैसा ही है, हेतुज्ञान से जिस अंश की प्राप्ति होती है, उसी का ज्ञान होता है, सुतरां अनन्त विशेष उससे जाना नहीं जा सकता। असंख्य हेतु ज्ञान मानना भी सम्भव नहीं। प्रायशः अनुमान शब्दजन्य होता है। इस प्रकार अनुमान से सामान्यमात्र उपसंहार अर्थात् सामान्यधर्म का आश्रयबुद्धि होती है। सुतरां श्रुत अनुमान का विषय कोई विशेष नहीं है, और लोक प्रत्यक्ष से भी सूक्ष्म व्यवहित-विप्रकृष्ठ वस्तुओं का ग्रहण हो नहीं सकता। इस प्रकार से प्रामाणिक श्रुत-अनुमान लोक प्रत्यक्ष समूह त्रिविध प्रमाण से अग्राह्य विशेष का रूप सूक्ष्म विशेष प्रमेय का अभाव है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। जिसलिए सूक्ष्म भूतगत या पुरुषगत अर्थात् गृहीता पुरुष के करणगत यावत् विशेष समाधिप्रज्ञा के ग्रहणयोग्य होते हैं। सुतरां श्रुत अनुमान प्रज्ञा से भिन्न विषय है, ऋतम्भरा प्रज्ञा विशेष के विषय होने से। इससे दशमत्वमसि के जैसे आत्मा निर्विशेष रूप होने से शब्द से ही साक्षात्कार होते हैं। विशेष ग्रहण के लिए योगज प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं होती ऐसा कहने वाले का उत्तर – अपने शास्त्र के अनुक्त विषय में समान शास्त्र सिद्धान्त को ही सिद्धान्त रूप से माना जाता है ॥४९॥

इस प्रकार ऋतम्भरा प्रज्ञा से बुद्ध्यादि व्यतिरिक्त आत्मस्वरूप विषयक सत् स्वरूप संस्कार को समुत्पन्न करते हैं। ये असत् स्वरूप रज-तममय संस्कारों के विरोधी होते हैं, इसलिए कहते हैं –

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न जो आत्मविषयक संस्कार, वह अन्यान्य व्युत्थानादिजन्य बुद्ध्यादि मायामय पदार्थ विषयक रज-तमव्याप्त बन्धनप्रद संस्कारों के प्रतिबन्धक होते हैं। उससे क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्त रूप भूमिकात्रयात्मक व्युत्थान चित्तजन्य संस्कारों के प्रति निरुद्धचित्त संस्कारों के प्रतिबन्धक होते हैं, और भी अवान्तर रूप से निरोध होने पर भी वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात चित्तवृत्तिजन्य संस्कारों के प्रति अस्मिता सम्प्रज्ञातस्थ ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है। ऋतम्भराप्रज्ञाजन्य संस्कार समूह प्राथमिक अवस्था में पूर्णरूप से बाध करने में समर्थ नहीं होती। किन्तु तनुता मात्र करती है, इस कारण से पुनः पुनः ऋतम्भरा प्रज्ञा पुनः पुनः सत्संस्कार इस प्रकार बहुवार सजातीय संस्कारों से पूर्व संस्कार समूह समूल विनाश प्राप्त हुआ करते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा संस्कार चक्र पूर्व संस्कारों का सम्पूर्ण विनाश तक चलता रहता है। यदि कहें ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों से फिर भी भोगात्मक संसार प्राप्त हो जाय? नहीं, ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य जो संस्कार वे तो केवल पूर्व संस्कारों के प्रतिबन्धक होते हैं, उसमें संसार भोग प्रदान की योग्यता नहीं होती। भोगजनकता तो बुद्ध्यादि त्रिगुण

विषयक प्रज्ञा में ही होते हैं, क्योंकि उसमें त्रिगुण विषयक संस्कार होते हैं। यह ऋतम्भरा वैसी त्रिगुण विषयिनी नहीं होती। सुतरां, ऋतम्भरा प्रज्ञा समारूढ़ चित्त वैसे संस्कारों से भोगादि कार्यक्षम नहीं करते हैं। उस समय तत्त्वज्ञान सहकृत उस संस्कृतचित्त पूर्व संस्कारों को अपना कार्य करने में अवसाद ग्रस्त कर देते हैं। सुतरां प्रारब्ध कर्म समूह भी उनका फल देने में समर्थ नहीं होते। प्रारब्ध कर्म का कारणीभूत संस्कारों का भी ऋतम्भरा प्रज्ञा सहकृत परम वैराग्यजन्य संस्कारों से नाश हो जाते हैं। प्रकृति पुरुषादितत्त्व विषयिणी विवेकख्याति उस समय समुत्पन्न होती हैं। विवेकख्याति पर्यन्त ही प्रकृति की चेष्टा की अवधि है, और विवेकख्याति की दृढ़ता से परमवैराग्य भी दृढ़ीभूत हो जाता है, उससे असंप्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। चित्त भी निरोध अवस्था में प्रवेश करता है ॥५०॥ चित्त निरोध अवस्था में प्रविष्ट हो जाने पर -

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार समूह भी असम्प्रज्ञात परम्परा से निरोध का अत्यन्त अभिभव उत्पन्न होने पर, ऋतम्भरा प्रज्ञा तत् संस्कार समूह का सम्पूर्ण निरोध होने पर, सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा आहित संस्कार समूह का भी विलय हो जाने पर निर्बीज समाधि को असम्प्रज्ञात कहा जाता है। उसमें विवेकख्याति द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा का निरोध और भी पर वैराग्य से उत्पन्न जो सम्प्रज्ञात का अनुकूल संस्कार समूह उससे परिपन्थी सम्प्रज्ञात संस्कार समूहों को नाश करते हैं। इसका निर्बीजत्व क्या है ? उत्पद्यमान सर्व प्रज्ञा संस्कार प्रवाह का निरोध से बीज के अभाव से कार्य का उत्पन्न नहीं होना। यदि कहें निरोध अवस्था में भी निरोधजन्य संस्कार का सद्भाव में क्या प्रमाण है ? क्योंकि वह प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है- सारी वृत्तियों के निरोध हो जाने से यह भी नहीं कह सकते वृत्तिमात्रनिरोध से उनके संस्कार द्वारा स्मरण का उद्भव करते हैं, जिस स्मरण से अनुमान किया जा सके। यह भी नहीं कि इस विषय में आगम का भी प्रमाण हो - ऐसा कहने पर- निरोधावस्थ चित्त संस्कारवान् निरोधप्रकर्ष का अधिकरण मुहूर्त, प्रहर, दिवसादि काल की अपेक्षा होने से, इस अनुमान प्रमाण से जाना जा सकता है। ऐसा कहा जाता है - निरोधप्रकर्ष वस्तु क्या है ? निरोध की दृढ़ता; वह भी मुहूर्त, प्रहर, दिवसादि काल की अपेक्षा रखते हैं। सुतरां चित्त का निरोध की दृढ़ता के लिये मुहूर्तादिकाल की अपेक्षा होती है, न कि क्षणमात्र समय में ही निरोध की दृढ़ता सुसम्पन्न हो सकता। शिथिल वस्तु की दृढ़ता क्षणमात्र से सम्भव नहीं, यह सर्वानुभव सिद्ध है। सुतरां मुहूर्तादि काल के अपेक्षित दृढ़ता का कारण क्या है ? जिससे शनैः शनैः सुदृढ़ता आ जा सके। यह भी नहीं कह सकते कि उस विभिन्न क्षण समूह एक दृढ़ता को बना सकते हैं। अतः उसमें कुछ संस्कारप्रचय मुहूर्त-दिवसादि कालकी व्यापकता

स्वीकार करना आवश्यक है, और उसी से निरोध समाधि की दृढ़ता होती है, और निरोधों में रहने वाले संस्कार समूह निरोध दार्ढ्यात्मक अपना कार्य सम्यक् रूप से निष्पन्न करके कृतकृत्य होकर मोक्ष पर्यन्त स्थायी संस्कारों द्वारा बुद्धितत्त्व चित्त के साथ प्रकृत्यात्मक स्वकारण में विलीन हो जाते हैं। बुद्धि के वियोग होने पर शरीर का वियोग सुतरां हो जाता है। उस समय नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव पुरुष स्वात्मदर्शन पर अर्थात् ब्रह्मात्मस्थिति प्राप्त कर महामुक्त हो जाता है ॥५१॥

इति श्रीपातञ्जल योगशास्त्र में सच्चित्तीर्थ विरचित
रहस्य चन्द्रिका टीका में प्रथम समाधिपाद ।

ॐ

योगदर्शन

द्वितीय साधनपाद

समाहित योगारूढ़ चित्त उत्तम अधिकारी के लिए है। अभ्यास और वैराग्यात्मक साधन से ही क्रियायोग निरपेक्ष योग प्रथमपाद में दिखाये गये हैं अभ्यास वैराग्य अतिकठिन साधन हैं, यह सबके लिए तत्काल सम्भव नहीं। सुतरां बहिर्मुख चित्त वाले योग में प्रवेश करना चाहें तो किस उपाय से उन्हें क्रमशः योगसिद्धि प्राप्त हो सके उसके लिए क्रियायोग सत्कर्म अष्टांगादि सापेक्ष सपरिकर विवेचना करने की इच्छा से भगवान् पतञ्जलि इस द्वितीयपाद का प्रारम्भ करते हुए पहले क्रियायोग का उपदेश कर रहे हैं–

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।।१।।

चित्तप्रधान साधन समूह और अभ्यास-वैराग्य द्वारा सिद्ध समाधि और उसका अवान्तर भेद तथा उसका फलभूत कैवल्यरूपयोग प्रथम पाद में कहे गये। अभी व्युत्थितचित्त वाले को सत्त्वशुद्धि के निमित्त प्रत्यह विशुद्धसत्त्व की भावना द्वारा अभ्यास और वैराग्य की रक्षा हो, और किस प्रकार से उपदेक्ष्यमान उपाय से चित्त समाहित हो, उसके लिए प्राथमिक युक्ततर उपायरूप से क्रियायोग का उपदेश करते हैं। योग का साधनरूप होने से क्रिया ही योग क्रियायोग। अनादि कर्मफल का अनुभव और दुःखमूल अज्ञान से उत्पन्न स्मृतिफल संस्कार रूप विचित्र वासना, और विषयजाल संप्रयुक्त अशुद्धि; योग का अन्तरायरूप पाषाण जैसा ठोस रज-तममल तप के बिना विरलावयव नहीं हो सकता। तप भी चित्तप्रसादकर आसन, प्राणायाम, उपवास आदि से क्लेश सहन करना और सुखत्याग करना– यही कायसंयमरूप तप, वाक्संयम-स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान मानससंयम, इससे वाह्यकर्म से विरत होकर शान्त-दान्त-उपरत-तितिक्षु बनकर समधि का अभ्यास में समर्थ होना है। बाह्यकर्म से विरत कैसे हों ? सर्वकर्म का परमगुरु ईश्वर में समर्पण -

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तकरोम्यहम् ॥

कामना से अकामना से जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म करता हूँ, वे सब तुम में न्यस्त हो और तुमसे ही प्रेरित होकर मैं करूँ।

फलसन्यास कैसे हो–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फलहेतुर्भूः मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ गीता ॥

कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्मफल में नहीं, कर्मफल के हेतु मत बनो और अकर्म में भी तुम्हारी आसक्ति न हो ॥१॥ क्रियायोग का दो फल सूत्र द्वारा कथन कर रहे हैं-

समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च ।।२।।

"धर्मेण पापमपनुदति" इस श्रुति के अनुसार सम्यक् निष्काम आदि रूपसे सेव्यमान कर्मयोग कर्मातिरिक्त विषयों से परावृत होकर एकाग्रवृत्ति और चित्त को निष्पाप करते हैं, उसके बाद क्रम से सत्त्वोद्रेक होने पर अन्यत्र भी लक्ष्य में एकाग्र हो जाते हैं और सम्प्रज्ञात समाधि भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्रतनुकृत क्लेशसमूह विवेकख्याति रूप वह्नि से भृष्टबीजरूप बन जाते हैं, उसका प्ररोह शक्ति नहीं रहती और विवेकख्यातियुक्त चित्त से स्थित सूक्ष्म क्लेश समूह अप्रसव धर्मा हो जाते हैं अर्थात् क्लेश सन्तान की और वृद्धि नहीं कर सकते, उस समय चित्त में बुद्धि और पुरुषख्याति ही रहती है। इस प्रकार तनुताप्राप्त क्लेश समूह एकाग्र चित्त में लय प्राप्त होकर कारणात्मक रूप से सबीजभाव प्राप्त होता है। क्योंकि क्रियायोग क्लेशों का बीजभाव दहन करने में समर्थ नहीं होते हैं। उसके बाद तत्त्वज्ञान रूप अग्नि से क्लेश समूह दग्धबीजभाव प्राप्त होने पर क्लेशों द्वारा अभिभूत न होकर सत्त्वपुरुष अन्यथाख्याति का उदय होता है और चित्त भी समाप्ताधिकार अर्थात् जिस हेतु से गुणों का कार्यारम्भण शक्ति होती थी वह अधिकार समाप्त हो जाता। इस प्रकार क्रियायोग का मोक्ष ज्ञानादि व्यापार के कथन से कर्मयोग ज्ञानादि का साधन रूप से ज्ञानांगत्व ही है, न कि साक्षात् मोक्ष का हेतु ॥२॥

वे क्लेश समूह कौन हैं, कितने हैं, इस प्रकार आशंका होने पर कहते हैं-

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः ।। ३।।

अविद्या अर्थात् अज्ञान विपर्ययरूप। अविद्या विपर्ययरूप होने से उससे जन्य अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश भी कार्य और कारण अभेद रूप होने के कारण विपर्यय रूप ही हैं। इनके स्वरूप लक्षण आगे कहेंगे। ये पंचक्लेश सत्त्वादिगुणों का लब्धवृत्तिक होते हैं। कार्य आरम्भणात्मक सामर्थ्य को दृढ़ बनाते हैं, वैषम्यरूप परिणाम को सम्यक् स्थापन करते हैं, महदादिरूप कार्य-कारण प्रवाह प्रवर्तित करते हैं, जाति-आयु और भोग को निष्पन्न करते हैं। क्लेशों से पुण्यापुण्य कर्म और कर्म से फिर क्लेश इस प्रकार हमेशा अन्यान्य अनुग्रहाधीन होते हैं, अन्यान्य साहित्य से ही क्लेशों की स्थिरता होती है और स्थिरता से विपाक परम्परा चलते रहते हैं। इसलिए दुःख का निदान स्वरूप होने के नाते इसका उच्छेदं के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥३॥

क्लेश की दृष्टि से सब बराबर होते हुए भी अविद्या मूलभूत होने से उसका प्राधान्य प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं –

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।।४।।

अविद्या मोह, अनात्मा में आत्माभिमान । वह अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशादि प्रत्येक का क्षेत्र प्रसव भूमि है । प्रसुप्ततनु आदि के भेद से वह चार प्रकार के हैं । अत: जहाँ विपर्यय ज्ञानरूपा अविद्या शिथिल हो जाती है वहाँ अस्मितादि क्लेशों का उद्भव देखे नहीं जाते । विपर्यय ज्ञान का सद्भाव होने पर अस्मितादि क्लेशों का उद्भव देखे जाते हैं, सुतरां अविद्या ही मूल है । प्रसुप्त तनुविच्छिन्न उदारों में, प्रसुप्ति क्या ? उस चित्तभूमि में जो क्लेश समूह है, प्रबोधक का अभाव से जो स्वकार्य आरम्भ नहीं कर पाते वे प्रसुप्ता कहे जाते, जैसे बाल्यावस्था में वासनारूप से स्थित क्लेश समूह प्रबोधक सहकारी के अभाव से अभिव्यक्त नहीं हो पाते । तनु उसको कहते हैं जो स्व स्वप्रतिपक्ष, भावना से कार्य सम्पादन शक्तियों को शिथिल करके चित्त में वासनावशेष रह जाता हो, सामग्री समूह के अभावसे स्वकार्य आरम्भ करने में अक्षम, जैसे अभ्यास सम्पन्न योगी लोग विच्छिन्न वे हैं जो कोई बलवान् क्लेश से भी अभिभूत न होकर अपनी अवस्था में स्थिर रह जाते हैं । क्योंकि द्वेष अवस्था में राग या राग अवस्था में द्वेष, इस परस्पर विरुद्ध दोनों का युगपत् उद्भव होना सम्भव नहीं । वे उदार हैं जो सहकारी सन्निधि को प्राप्त करते हैं, अपना अपना कार्य को सुसम्पन्न करते हैं, जैसे व्युत्थानदशा में सदा ही योग का परिपन्थि रहते हैं । ये चार प्रकार में प्रत्येक ही अविद्यान्वयी और अविद्या मूलरूप से स्थित देखे जाते हैं और कहीं भी विपर्यय से निरपेक्ष होकर उपलब्ध नहीं होते । अत: मिथ्यारूप अविद्या को सम्यग् ज्ञान से निवृत्त किया जाता है, तब दग्धबीज की तरह इनका कहीं भी प्ररोह देखा नहीं जाता । सुतरां इनको अविद्यानिमित्त और अविद्या अन्वयीरूप से निश्चय किया जाता है । इसलिए सबको अविद्यारूप कह सकते हैं । सबके सब क्लेश समूह चित्त के विक्षेपकारी होते हैं। सुतरां योगियों के लिए सबसे पहले इनका उच्छेद करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।।४।। अविद्या का स्वरूप बता रहे हैं -

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।।५।।

कोई भूतवर्ग को नित्य मानता हुआ तद्रूप होने की इच्छा से भूतों की उपासना करते हैं, इस प्रकार धूमादि मार्ग का उपासक भी होते हैं; कोई चन्द्र, सूर्य, तारा, द्युलोक आदि में अभिमान करके तद्रूप बनने के लिए उपासना करते हैं । इस प्रकार अमृत भोगी देवताओं का भी तद्रूप भोग प्राप्ति निमित्त उपासना करते हैं । इस प्रकार अनित्य में नित्यबुद्धि अविद्या है । अशुचि-परमबीभत्स कार्य में – माता के उदररूप

मूत्रपुरीषपूर्ण स्थान से, पिता के रक्तवीर्य रूप बीज से, अशित पीत आहार का रसादि भाव उपष्टम्भ, उससे शरीर धारण होता है, निस्पन्द-प्रस्वेद (पसीना) निधन से श्रोत्रिय शरीर भी अशुचि होती है, क्योंकि स्नानादि का विधान है। स्वभाव से अशुचि होता हुआ भी शुचिमान् समझ कर उसमें सुगन्धि आभूषणादि से सुन्दर बनाते हैं। परमबीभत्स स्त्रीशरीर में सुन्दरता का व्याख्यान करता हुआ उसमें रत होना, अपुण्य में हिंसादि में पुण्य मानकर बलिप्रदान, भर्जनादि बहुदुःखपूर्णधनादिरूप अनर्थ में अर्थबुद्धि, राग से अशुचि में शुचिबुद्धि, द्वेष से- दुःखरूप में सुखबुद्धि, अस्मिता से अनात्मा में आत्मख्याति, अभिनिवेश से अनित्य में नित्यख्याति।

इसमें पञ्चशिखाचार्य का वचन प्रमाण देते हैं– व्यक्त = चेतन पुत्रादि अव्यक्त = अचेतन गृहादि, सत्त्व = द्रव्य आत्मत्वेन अहंताममतास्पद रूप वे सब-सकल लोग, अप्रतिबुद्ध = मूढ़। वस्तु का भाववस्तु सतत्त्व वस्तुत्व-न अभाव रूप जानना चाहिए, अमित्रादि जैसा। अमित्र कहने से – मित्र का अभावरूप किंचित् नहीं किन्तु शत्रु ही अमित्र, अगोष्पद का अर्थ गोष्पद का अभाव मात्र नहीं किन्तु विस्तृत देश, इस प्रकार अविद्या विद्या का अभावमात्र नहीं है। किन्तु वस्त्वन्तर अतद्रूप प्रतिष्ठ मिथ्याज्ञानरूप वस्तु ही अविद्या, सब कुछ मिथ्याज्ञानरूप विपर्यय है, इसलिए जो कि संस्कृति के हेतु विपर्ययरूप उसी को अविद्यारूप जानना चाहिए। न कि अविद्या अनिर्वचनीय किन्तु अतद्रूप प्रतिष्ठ मिथ्याज्ञानरूप निरूपित है। अतद्रूप प्रतिष्ठित होने से वह न प्रमाण है, न स्मृति, सुतरां अविद्या उससे भिन्न ज्ञानरूप ही है, वह पूर्वोत्तर वृत्ति प्रवाहरूप होने से प्रमाणादि की तरह बीजवृक्षन्याय से अनादिरूप है ॥५॥

अविद्याको कहकर उसका कार्य रागादिसे वरिष्ठा अस्मिता का लक्षण बता रहे हैं –

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

दृक्शक्ति स्वबोध अथवा स्वत = बोध दर्शनशक्ति दृशी का स्वाभास से स्वाभासभूत, जैसा बौद्धबोध। ज्ञाताऽहं यहाँ विशुद्ध ज्ञाता दृक्, उस प्रत्यय में दृश्याभिमान रूप जड़ अहं वाच्यप्रत्यय से ज्ञाता का एकत्व की प्रतीति, उस एकत्व प्रतिभास ही अस्मिता, उससे अत्यन्त विभिन्ना, अत्यन्ता संकीर्णा भोक्तृशक्ति और भोग्यशक्ति-दृग्दर्शन शक्ति। अभिन्ना = मिश्रित की तरह प्रतीति होती है, उस मिश्रित भाव में अहं सुखी अहं दुःखी इस प्रकार विपर्यस्त प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसी को द्रष्टा का भोग कहा जाता है। दृग्दर्शन शक्ति का स्वरूप उपलब्धि होने पर अस्मि प्रत्यय से अखण्ड निर्विकार स्वाभास चेतिता पुरुष अभिमान से आरोपित होने से 'सर्वोस्मि' प्रत्ययरूप दृश्य से अत्यन्त विधर्मा इस प्रकार विवेकख्याति उत्पन्न होती है। विवेकख्याति होने पर 'अहं सुखी' इस प्रकार भोगप्रत्यय उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि वह विवेकख्याति का विरोधी है। जैसा रागकाल में द्वेष का अवकाश नहीं रहता, पंचशिखाचार्य कहते हैं – बुद्धि से

परमपुरुष द्रष्टा को आकार-शुद्धस्वरूपता, शील-साक्षित्व रूप माध्यस्थस्वभाव, विद्या चिद्रूपता इत्यादि लक्षणों से विभक्त बुद्धि से अत्यन्त भिन्न न देखने के कारण अविवेकी लोग बुद्धि को ही आत्मारूप मान बैठते हैं ॥६॥ अस्मिता का लक्षण बताकर राग का लक्षण बता रहे हैं –

सुखानुशयी रागः॥७॥

सुख और उसके साधन से अभिज्ञ पुरुष उन दोनों का अनुस्मरणपूर्वक, सुखतत्साधनमात्र विषयक अभिलाषात्मक क्लेश ही राग है। इसे राग, लोभ, तृष्णा, विषयप्राप्त्यभिलाषा, गर्ध (लालषा) रूप से कहा जाता है। लोक में भी देखे जाते हैं, विविध आनन्दप्रद पदार्थ में तृष्णासन्तान सबको है और शब्दादि सुखानुभव संस्कार कालान्तर में भी होता रहता है। अतः सुखानुभव को राग के प्रति कारण जानना चाहिए, और सुख का स्मरण से भी पुनः पुनः तृष्णासन्तान उत्पन्न होता है, इससे सुख का स्मरण भी राग के प्रति कारण है। ॥७॥ राग के अनन्तर द्वेष का लक्षण कर रहे हैं–

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

दुःख का अभिज्ञ ही दुःखाशयरूप है। दुःख के संस्कार से, दुःख के अनुस्मरण से, दुःख का और दुःख साधन का प्रहाण निमित्त जो प्रवृत्ति, वह द्वेष कहलाता है। उसका पर्याय – प्रतिघ = प्राप्त दुःख का प्रतिघात से हनन करने की इच्छा, जिघांसा = हनन करने की इच्छा, मन्यु = बद्धमूलक मानसिक द्वेष, क्रोध की पूर्वावस्था, क्रोध-प्रसिद्ध ॥८॥ अभिनिवेश का लक्षण बता रहे हैं –

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥९॥

सारे प्राणीवर्ग का यह आत्माशी = आत्म प्रार्थना, नित्या = अव्यभिचारी है। 'मैं नहीं रहूँ किन्तु बना रहूँ'' ऐसी प्रार्थना सदा ही सभी प्राणियों में देखे जाते हैं। क्योंकि यह आत्माशी अनुस्मृति रूपा, स्मृति भी संस्कार से उत्पन्न होते हैं, संस्कार भी अनुभव से उत्पन्न होते हैं। यह आशीष की अनुभूति मरणकाल में ही होते हैं, इससे यह पूर्वजन्म के मरण का अनुभव बता रहे हैं। दृढ़ अभिनिवेश रूप क्लेश स्वरसवाही–स्वसंस्कार द्वारा वहनशील स्वाभाविक जैसा ब्रह्मसाम्यपर्यन्त जातमात्र का भी अभिनिवेश देखा जाता है। इस मरण से अभय रूप अभिनिवेश प्रत्यक्ष प्रमाण प्रमित निष्पन्न नहीं है, सुतरां यह स्मृति रूप ही होनी चाहिए। मेरा उच्छेद न हो, यह ज्ञानात्मक मरणत्रास। यह भी कहा जाता है – मरणत्रास प्रमाण प्रमित प्रत्यय नहीं है, सुतरां वह स्मृति, स्मृति भी पूर्वानुभव से उत्पन्न होती है, सुतरां मरणत्रास पूर्वानुभूत, इससे पूर्वजन्म का अनुमान भी सिद्ध होता है। विद्वानों का = आगम और अनुमान ज्ञान वालों का न कि

सम्प्रज्ञानवान का अर्थात् जिसने आगम और अनुमान से पूर्वापर का अन्त जान लिया, ऐसा विद्वान् अनादि–पुरुष यह भी जानते हैं कि देहान्तर प्राप्ति भी पुरुष का अमरत्व विज्ञानरूप अपरान्तविज्ञान है, जिनसे श्रुत और अनुमान द्वारा यह निश्चय किया, ऐसे विद्वानों का भी तथारूढ़ = तथा प्रसिद्ध भयरूपक्लेश = अभिनिवेश-श्रुत अनुमान प्रज्ञान से क्षीण नहीं होते, सुतरां ऐसे विद्वानों का भी क्लेश वासना अन्यों के समान ही है। जिन योगियों के सम्यग् ज्ञान से सारे क्लेश क्षीण हो जाने से अभिनिवेश वासना रूप क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं – "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति" श्रुति विद्वान् आनन्दरूप ब्रह्म को जानकर और किसी से भय प्राप्त नहीं होते हैं ।।९।।

इस प्रकार सूत्रकार ने क्लेशों के प्रसुप्ततनुविच्छिन्न उदाररूप चार अवस्था पहले देखे हैं। जो पञ्चमी दग्धबीजावस्था वह तो कारणावस्था प्राप्त सूक्ष्मक्लेश रूप से निर्णित है। ज्ञानाग्निसे दग्धबीज के अनन्तर –

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ।।१०।।

उस अविद्यादि पञ्चक्लेश समूह दग्धबीजभावरूप प्रतिप्रसव-प्रसव विरुद्ध-प्रलय और चित्त का प्रलय द्वारा ही हेया-त्याज्या-अस्तगता हो जाती है। अर्थात् योगी का चित्त के प्रलीन होने पर उसी के साथ क्लेशों का भी प्रलीन हो जाता है। यदि कहें क्लेश और उनके संस्कारों का विवेकख्याति से विलय हो जाय, वहाँ चित्तनाश की क्या अपेक्षा है ? सत्कार्यवादियों का क्लेशात्मक कार्य का चित्तसत्त्वे कदापि विलय सम्भव नहीं। किन्तु आत्मा के साथ वियोग हो जाने पर चित्त का वह क्लेश समूह भी वियुक्ता हो जाती है, वही बुद्धि के साथ चित्त के रहते हुए क्लेशों का आत्यन्तिक विलय हो नहीं सकता है, सुतरां ज्ञानाग्नि से केवल दग्धबीज भाव ही सम्पन्न होता है, न कि अत्यन्त विलय। सुतरां क्लेशों के विलय के लिए चित्तलय की अपेक्षा है ।।१०।।

क्रियायोग द्वारा तनुकृत क्लेश समूह का किस प्रकार पुरुष प्रयत्न से हान हो, इसके उत्तर में कहते हैं, बीजभावगत स्थित का –

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।।११।।

चित्त की एकाग्रता रूप ध्यान से तिरोहित होने वाला सुख-दुःख मोहात्मिका आरब्ध कार्य का जो क्लेशात्मक स्थूलावृत्तियों के जाति-आयु-भोगमूलक जो क्लेशावस्था, वह स्थूला स्वल्प प्रतिपक्षा, उसके नाश का उपाय क्रियायोग है। सूक्ष्म क्लेशवृत्ति समूह महान् प्रतिपक्षा चित्त प्रलय का हेतु होने से, चित्त का प्रलय भी परवैराग्य के बिना नहीं हो सकता, और परवैराग्य भी निर्गुण पुरुषख्याति से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा सम्यग्दर्शन अति सुदुर्लभ है – *"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।"*
यत्न करने वाले सिद्धों में भी कोई विरल ही मुझे तत्त्वत जानते हैं ।।११।।

क्लेशसमूह किस कारण से हेय इस प्रकार आकांक्षा होने पर, क्लेशसमूह परम्परा से दुःख के निदानरूप है, यह आगे के तीन सूत्रों से कहना है, उसमें पहले क्लेश को समूह दुःख के उत्पादन में साक्षात् द्वार कह रहे हैं –

क्लेशमूलः कर्माशय दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।।१२।।

दृष्टादृष्टजन्म – वर्तमान और भविष्यत्, वेदन-भोग, कर्माशय-धर्माधर्म वे दृष्टजन्म भोग्य या अदृष्टजन्म भोग्य, उभय ही क्लेशमूलक हैं।

जाति-आयु-भोग हेतु जो संस्कार वही आशय है, कर्म चित्त, इन्द्रिय और प्राणों का व्यापार है, उस अनुभव से उत्पन्न जो संस्कार पुनः अभिव्यक्त होता हुआ अपना गुणों के अनुसार चेष्टा कराता है और उस चेष्टा के साथ शरीर-इन्द्रिय जन्य सुख-दुःखादि का आविर्भाव होता है – उसी को कर्माशय कहते हैं। कर्माशय पुण्यापुण्य रूप, पुण्यापुण्य काम-क्रोधादि से उत्पन्न होता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह से यज्ञादि अथवा परपीड़ादि करते हैं, और जो लोग अविद्या में बहुधा वर्तमान होते हुए अपने आपको पण्डित मान बैठे हैं, उनका कर्म धर्माधर्म मोहमूलक ही होता है। कर्माशय दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय अर्थात् जिस जन्म में उपचित कर्माशय यदि उसी जन्म में विपक्व हो जाय तो वह दृष्टजन्म वेदनीय, अन्य जन्म में हो तो अदृष्टजन्म वेदनीय। उसमें तीव्र वेग से मन्त्र तप समाधि द्वारा निवर्तित ईश्वर देवता महर्षि महानुभवों की आराधना द्वारा जो परिनिष्पन्न होता वह साथ ही पुण्य कर्माशय का परिपाक कर लेता है अथवा उपरोक्त व्यक्तियों को पुनः पुनः उपकार करने वाले का भी सत्य ही परिपाक हो जाता है – जैसे नन्दीश्वर या नहुष तत्काल देवत्व या तिर्यकत्व को प्राप्त हुए। नारकियों का दृष्टजन्म वेदनीय कर्माशय नहीं होते हैं, और जो लोग ध्यानबल से सम्पन्न वशी हैं, उनका भी दृष्टजन्म वेदनीय, और जो लोग दिव्य देह प्राप्त कर लिया वे तो –

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचारे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

ब्रह्माजी के कल्प पूर्ण हो जाने पर, कृतकृत्य लोग उनके साथ ही परमपद को प्राप्त हो जाते हैं ॥१२॥ कर्माशय का फल कथन कर रहे हैं –

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।।१३।।

मूल अविद्यादि पञ्च क्लेश, वे जब तक अभिभूत नहीं होते तबतक उससे शुभाशुभ कर्मों का विपाक जाति आयु-भोगात्मक तीन प्रकार के फल उत्पन्न होते हैं, उसमें जाति-मनुष्यत्वादि, आयु-देहस्थिति, भोग-विषय इन्द्रिय द्वारा सुख-दुःख का अनुभव। चित्तरूप भूमि में अनादि काल सञ्चित कर्म वासना जैसे-जैसे पाक होता जाता वैसे-वैसे गौण और प्रधान भाव में स्थित होकर जाति, आयु और भोग लक्षण कार्य को आरम्भ करता है।

कर्माशय प्रथमतः द्विविध, दृष्टजन्म वेदनीय और अदृष्टजन्म वेदनीय अर्थात् वर्तमान जन्म भोग्य और भविष्यत् जन्म भोग्य। वे भी पुनः दो प्रकार नियत विपाक और अनियत विपाक। इस प्रकार में जो अदृष्टजन्म वेदनीय नियत विपाक वह जन्म आयु भोगात्मक त्रिविध विपाक होते हैं। साधारण नियम के अनुसार और औत्सर्गिक रूप से जो एकभवी वह कार्यरूप में भी एकभाविक होते हैं – इसका अभिप्राय यह है कि – *नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।*
अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

शत कोटि कल्प भी बीत जाय, कर्म उसका भोग न देकर क्षीण नहीं होता, शुभाशुभ जो भी कुछ किया हो उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। जो कि दृष्टजन्म वेदनीय अनियतविपाक, वह भगवान या उनका भक्त आदि से अथवा उनके प्रति किया अपराध से उत्कट सुकृत दुष्कृत रूप कर्म यही जन्म में भोग या आयु का किंवा उभय का हेतु होने से एक विपाक वा दो विपाक होते हैं। इसका कदाचित् कादि अपवाद रूप से हुआ करता है – *"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।*
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

तीन वर्ष में, तीन मास में, तीन पक्ष में या तीन दिन में अति उग्र पुण्य या पाप का फल यहाँ प्राप्त हो जाता है। जो कि अदृष्टजन्म वेदनीय अनियत विपाक, उसकी तीन गति होती है। पहले तो विपक्वकृत का नाश – उसमें प्रमाण – "द्व द्वै ह वै कर्मणी"– श्रुति भाव दो दो कर्म को जानना चाहिए, एक पापराशि दूसरा पुण्य को नाश कर देते हैं। द्वितीय-प्रधान कर्म में आवाप अर्थात् जैसे तृण बीज समूह प्रधान धान्य बीजों के साथ एक ही उत्पत्ति कुसुलादि में स्थिति या वपनादि में स्वातन्त्र्य नहीं होते, इसी प्रकार प्रधान यागादि का फलोदय के समय भी उसका अंग पशुहिंसादि का भी फलादि उसके साथ ही होते हैं, इस गति के विषय में पंचशिखाचार्य कहते हैं – "स्यात् स्वल्पसंकरः" – थोड़ा संकर हो जाता है।

तृतीय – नियतविपाक रूप से अन्य समय में अनवकाशत्वनिबन्धन बलीयरूप से प्रानान्यभाक कर्म द्वारा अभिभूत निर्बल कर्म बहुकाल तक रहता है। इस प्रकार इस निर्बल का स्वरूप अनियत होने से पूर्वशरीरावच्छिन्न मरणकाल में अभिव्यक्त उस जन्मावच्छिन्न यावत् कर्म समूह एकत्रित होकर मूर्च्छा प्राप्त होने पर भी उनका नियत होने से कोई विरोध नहीं है। इन गतियों के अनुरोध से कहे गये - "गहना कर्मणो गतिः"– कर्मकी गति अतिगहण है, "दैवीविचित्रा गतिः"– दैवी गति विचित्रा होती है।

जो कि चतुर्थ रूप से अवशिष्ट हैं – दृष्टजन्म वेदनीय नियत विपाक वे भी भविष्यत दृष्टि से उक्त अदृष्टजन्मवेदनीय नियत विपाक का प्राय अवस्थाशाली रूप से कहे गये हैं॥१३॥

कर्म को क्लेशमूलक कहा गया है, जात्यायुर्भोग को कर्ममूल कहा गया है, जात्यायुर्भोग क्यों त्यागना है ?

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४।।

जन्म आयु भोग में जन्म और आयु को ह्लाद और परिताप का पूर्वभावी रूप से फलत्व कहे गये, न कि भोग का ह्लाद और परिताप के उदय के अनन्तर भावितदनुभवात्मक तथापि अनुभाव्य रूप से भोग्यरूप से भोग फलमात्र से भोगफल कहा जाता है । यदि कहें अपुण्य हेतु जात्यायुर्भोग के प्रति वेदनीय परितापफला होने से त्याज्य हो जाय, फिर क्यों पुण्य हेतु अनुकूल वेदनीय रूप सुख फल को त्याग दें ? यह भी नहीं कह सकते; ह्लाद और परिताप अविनाभूत है, जिससे आनन्द का अनुभव करते समय परिताप भी साथ में आ जाय ? क्योंकि उसके हेतु ही भिन्न होते हैं । यद्यपि साधारण जनता सुखभोग में दुःख का अनुभव नहीं करते हैं तथापि सूक्ष्मदृष्टि वाले योगी लोग लौकिक दुःख जैसा विषय सुख को भी दुःख मिश्रित रूप से विषसंपृक्त मिष्ठान्नवत् त्याग देते हैं ।।१४।।

यद्यपि साधारणतः मनुष्य का विषयसुखभोग के समय दुःख को पृथक् रूप ज्ञान नहीं होता है तथापि विवेक ज्ञान से देखने वाले योगी लोग –

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।।१५।।

परिणाम ताप संस्कारों के सम्बन्ध से उत्पन्न दुःख तथा गुणों के जो वृत्तियाँ परस्पर विरोधी होने से सर्वत्र दुःखमात्र की उपलब्धि होती है ।

क्लेशादि परिज्ञात विवेक से विवेकी का परिदृश्यमान सारे के सारे भोग का साधन अर्थात् चेतनाशक्ति से अतिरिक्त यावत् प्रकृति पदार्थ समस्त सुख दुःख मोहात्मक गुणत्रयसे उत्पन्न गुणत्रयव्याप्ता सुख दुःख मोहात्मक यह सर्वज्ञानानुभूत है । उसमें कोई पदार्थ किसी के लिए सुख किसी के लिए दुःख और किसी के लिए मोह रूप होता है। जैसा एक स्त्री पति के लिए सुख, सपत्नी के लिए दुःख और कामुक के लिए मोह के कारण होते हैं । जिसलिए अत्यन्त अभिज्ञ योगी सामान्य क्लेश से भी उद्विग्न हो जाते हैं । जैसा एक ऊर्णनाभ तन्तु अक्षिपात्र में स्पर्श होते ही महती पीड़ा का अनुभव होता है अन्य अंग में लगे तो नहीं होते, वैसे विवेकी स्वल्प दुःखानुवेध से ही उद्वेग प्राप्त हो जाते हैं । किस प्रकार परिणाम-ताप-संस्कार रूप दुःख से उद्वेग होता है । परिणाम– उपभूज्यमान विषयों का यथायथ पुनः पुनः भोग से विषयतृष्णा की अभिवृद्धि और उसकी प्राप्ति न होने पर अपरिहार्य दुःख या दुःखान्तर का साधन होने से भी दुःखरूपता परिणामदुःखत्व कहते हैं । ताप–सुख साधनों का उपयोग करते-करते उसके

परिपन्थि के प्रति द्वेष सर्वदा ही अवस्थित रहने से सुखानुभव काल में भी ताप-दुःख का दुष्परिहर होता है – यह तापदुःख है। संस्कारदुःख स्वाभिमत या अनभिमत विषय का सन्निधान से सुखबोध या दुःखबोध उपस्थित होने पर स्व स्व क्षेत्र में संस्कार का आरम्भ होता है, और संस्कार से पुनः तथाविध संविद् का अनुभव, इस प्रकार अपरिमित संस्कार की उत्पत्ति द्वारा संसार का उच्छेद न होने पर सब कुछ दुःखरूप ही है। गुणवृत्ति विरोध – सत्त्वरजतम गुणों के जो वृत्तियाँ सुख दुःख मोहरूपा परस्पर अभिभाव्य अभिभावक रूप से विरुद्ध रूप उत्पन्न होते हैं, उनका सर्वत्र ही दुःखानुवेद्य रूप होने से दुःखत्व है। ऐसी उक्ति है – ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति की इच्छा वाले विवेकी का उक्तरूप कारणचतुष्टय से सारे के सारे विषय दुःखरूप से प्रतिभात होते हैं। सुतरां सर्व कर्म विपाक दुःखरूप ही है ॥१५॥

पहले क्लेश कर्माशय और विपाक राशि अविद्या से उत्पन्न कहे गये, अविद्या भी मिथ्याज्ञान रूप होने से सम्यग्ज्ञान से उच्छेद्य है, सम्यग्ज्ञान का साधन हेयोपादेय अवधारण रूप होने से, उसको कथन करने के लिए कहते हैं –

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

अनागत – भविष्यत् कालीन दुःख हेय त्याज्य है। भूतकालीन दुःख अतिक्रान्त हो गया, अतः हेययोग्य नहीं। जो वर्तमान में अनुभूयमान वह त्यागयोग्य नहीं है, क्योंकि वह तृतीय क्षण स्थायी नहीं होते। सुतरां अनागत सांसारिक दुःख ही हेय होता है ॥१६॥

जिसका नाश करना हो, उसके मूल कारण को जानने की आवश्यकता है; क्योंकि मूल कारण के नाश से ही उसका पूर्णतया नाश हो सकता है। नहीं तो वह पुनः उत्पन्न हो सकता है। अतः उक्त 'हेय' का हेतु बतलाते हैं –

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

हेय दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, जिसलिए द्रष्टा स्वप्रकाश से बुद्धिस्थ सह संयोग से अचेतन दृश्य दुःखवृत्तिता लाभ करता है – द्रष्टा बुद्धि के साथ अस्मिता भाव हो जाता है उसी समय पुरुष उदासीन होता हुआ भी चिच्छायापत्ति से बुद्धि का प्रतिवेत्ता बन जाता है। अर्थात् कारणादि जब भावयुक्त अचेतन आत्मविज्ञानांश जिस आत्मप्रकाश से "मैं अपने को जानता हूँ" इस प्रकार स्वप्रकाश जैसा बन जाता है, वही बुद्धि प्रतिसंवेदी पुरुष है। यदि कहें – इससे बुद्धि पुरुष का दृश्य हो जाय, अत्यन्त व्यवहित शब्दादि क्यों दृश्य बनें ? तो कहते हैं – इन्द्रिय प्रणाली द्वारा बुद्धि शब्दादि रूप में परिणत हो जाने के कारण शब्दादि भी दृश्य है। यह अयस्कान्तमणि जैसा सन्निधिमात्र उपकारी अर्थात् परस्पर असंकीर्ण होता हुआ भी सन्निधिमात्र से उपकारी किन्तु दैशिक सम्बन्ध से नहीं, क्योंकि द्रष्टा देशातीत है, देश तो दृश्यरूप

होता है । वह द्रष्टा विषयी से सम्पूर्ण भिन्न है – श्रुति भी कहती है – अनणु अह्रस्व-अदीर्घ-अनन्त इत्यादि ऐसा द्रष्टा के साथ देशिक संयोग मूढ़ लोग ही करते हैं, विद्वान् नहीं करते । यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का जो एकक्षण के लिए सान्निध्य की उपलब्धि वही संयोग है । प्रकाश्यप्रकाशकभाव होने से द्रष्टादृश्य का स्वस्वामी रूप सम्बन्ध है । दृश्य स्वकीय द्रष्टा स्वामी का है, अनुभव भी करता है "मेरी बुद्धि" कार्य विषय अर्थात् मैं करता हूँ, इस प्रकार दृश्य विषयतापन्न होता है और प्रतिभासमान लब्धसत्ताक भी होता है । दृश्य त्रिगुणात्मक रूप से स्वतन्त्र किन्तु परार्थ पुरुषोपदर्शनवशाद् बुद्ध्यादिरूप से परिणत होने से परतन्त्र-द्रष्टृतन्त्र का अर्थ भोग और अपवर्ग हैं । उससे बुद्ध्यादिवृत्तिता पुरुषोपदर्शन सापेक्ष, सुतरां बुद्ध्यादि दृश्यपरार्थ है । यथा गौ आदि स्वतन्त्र होता हुआ भी मनुजाधीन होने से मनुजतन्त्रा ।

दुःख = दृश्य अचेतन, उसके द्रष्टा के साथ संयोग के बिना ज्ञान नहीं होता । सुतरां दृग्दर्शन शक्ति का संयोग ही हेय दुःख का कारण है, संयोग अनादि बीजवृक्ष जैसा विवेक से वियोग देखा जाने से अविवेक संयोग का कारण अविवेक भी अनादि है, सुतरां हेय दुःख का संयोग भी अनादि ही है । इस विषय में पंचशिखाचार्य का प्रमाण देते हैं – "द्रष्टा के साथ बुद्धि का उस संयोग हेतु विवर्जन से आत्यन्तिक दुःख का प्रतिकार हो जायेगा ।" कैसे ? दुःख का परिहार से प्रतिकार देखा जाने से-यथा-पादतल की भेद्यता, कण्टक का भेत्तृत्व, परिहार-कण्टक का पैर में अधिष्ठित होने नहीं देना अथवा पादत्राण से पैर को व्यवहित रखना, या पैर को कण्टक से दूर रखना, इस तीन प्रकार प्रतिकार भेद को जो जानता है, वह कण्टक भेद जन्य दुःख को प्राप्त नहीं होता । परमार्थ पक्ष में भी– तप्य-तापकभाव गुणों का ही, उसमें पादतल का मृदुत्व के जैसे सत्त्व भी मृदु इसलिए सत्त्व ही तप्य है । यदि कहें – सत्त्वतप्य क्यों- पुरुष क्यों नहीं ? उत्तर– तपिक्रिया कर्म रूप सत्त्व में ही होता है, अपरिणामी क्षेत्रज्ञ में नहीं । सत्त्व का तप्यमान से तदाकार अनुरोधी पुरुष भी अनुतप्त होता है – इस विषय का व्याख्यान पहले ही हो चुका है ॥१७॥ द्रष्टा और दृश्य का संयोग कहे गये हैं, उसमें दृश्य का स्वरूप-कार्य और प्रयोजन कह रहे हैं –

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।।१८।।

प्रकाश सत्त्व का धर्म, क्रिया प्रवृत्तिरूप राजस, स्थिति नियमनरूप तामस । ये प्रकाश क्रिया स्थितियों के स्वाभाविक रूप जिसकी, वह इस प्रकार दृश्यस्वरूप से निर्दिष्ट है । अर्थात् पुरुष चैतन्य द्वारा चेतन जैसा बनना ही प्रकाश और उस प्रकाश ही स्वभाव जिसका वह द्रव्य–सत्त्व है । चित्त और इन्द्रियों में जो बोधरूप भावरूप ग्राह्यवस्तु में जो प्रकाश्य धर्म – वही प्रकाश अवस्थान्तरता प्राप्ति ही क्रिया राजस और प्रकाश तथा क्रिया की रुद्धावस्थास्थिति तामस है । ये सत्त्वादि गुण समूह पुरुष का

बन्धनरूप रज्जु है। ये गुण समूह परस्पर उपरक्त संयोगविभाग धर्म वाले इतरेतर आश्रय से उपार्जित मूर्ति समूह परस्पर अंगांगी रूप होने भी उनकी शक्ति प्रविभाग असंकीर्ण है, इसलिए सत्त्व का प्रकाशशक्ति क्रिया और स्थिति से भिन्न नहीं होते हैं। प्रकाशक्रिया स्थितियाँ भी अंगांगी होती हुई भी प्रत्येक के पृथक् रूप होते हैं – जैसा श्वेत-रक्त-कृष्ण वर्ण सूतों से बनी हुई रज्जु में श्वेतादि सूत्र पृथक् ही रहते हैं। असंख्य सात्त्विक भावों का उपादानभूत प्रकाशशक्ति उसके तुल्यजातीय और उसके अतुल्य जातीय शक्ति क्रिया और स्थिति, इस प्रकार राजस–तामस भावों का असंकीर्ण होता हुआ भी त्रिगुणशक्तियाँ सम्भूयकारी अर्थात् सहकारी रूप से वर्तमान रहते हैं। दिव्यशरीर की उत्पत्ति में सत्त्वप्रधान, अंग रज और तम, इस प्रकार मनुष्यशरीर की उत्पत्ति में रजप्रधान, अंग सत्त्व और तम, और तिर्यक्शरीर की उत्पत्ति में तमप्रधान, अंग सत्त्व और रज, प्रधान शब्द का अर्थ भावप्रधान है। यद्यपि उद्भूत नहीं तथापि गुणों का विवेक न होने से सम्भूयकारी होने पर भी व्यापारमात्र से सहकारीरूप से प्रधान के अनुगत रूप से ही उनका अस्तित्व अनुमित होता है। गुण समूह समर्थ होने पर भी पुरुष साक्षिता के बिना महदादि कार्य नहीं कर सकते; सुतरां पुरुष की साक्षिता के रूप से ही कार्य करने में समर्थ अर्थात् अधिकारवान्। वे द्रष्टा के साथ अलिप्त होते हुए भी अयष्कान्तमणि जैसा उनका सान्निध्यमात्र ही उपकारिता है।

यदि कहे गुणों का धर्माधर्म लक्षण ही निमित्त प्रयोजक हो जाय – पुरुषार्थ प्रयुक्त ऐसा क्यों कहें ? उत्तर – सत्त्व या रज तम एक का ही प्रधान के स्वकार्य में वृत्ति होती है। अन्य दो प्रत्यय, धर्मादिनिमित्त के बिना ही अनुवर्तनशील, ये दृश्य गुण समूह ही प्रधान शब्दवाच्य होते हुए भी हैं। इस प्रकार गुणों का शील कहकर उसका कार्य बता रहे हैं – सत्कार्यवाद सिद्धि के लिए जो जिस स्वरूप का है, वह तद्रूप ही परिणाम को प्राप्त होता है, गुणों का भोग किंवा अपवर्ग के लिए प्रवृत्ति, उनका निष्पन्न हो जाने पर अव्यक्त रूपता की निवृत्ति हो जाती है। भोग – इष्टानिष्ट गुण स्वरूप का अवधारण अविभागापन्न रूप, भोक्ता का स्वरूप का अवधारण अपवर्ग, दो से अतिरिक्त कोई दर्शन नहीं है। इस विषय में पञ्चशिखाचार्य कहते हैं – इन तीन गुणों में सर्वकर्तृत्व होने पर भी गुणत्रयापेक्षा चतुर्थ पुरुष में गुण व्यापार आदि का साक्षीमात्र कर्त्ता में बुद्धि द्वारा सुख दुःखादि सर्वभाव को स्वाभाविक जानकर उससे अन्य महान् आत्मा को ज्ञानमात्र के रूप से परमदर्शन है, ऐसी शंका नहीं करते अर्थात् भोग ही जानते, अपवर्ग नहीं। भोगापवर्ग बुद्धिकृत बुद्धि में ही वर्तमान पुरुष में व्यपदेश होता है? जैसा जय या पराजय योद्धा में होता है किन्तु स्वामी में व्यपदेश होता है, और वही भोक्ता भी होता है, वैसे बन्धमोक्ष भी बुद्धि में होता है और व्यपदेश पुरुष में होता है और वह फल का भोक्ता है। परमार्थतो – बुद्धि का ही पुरुष के लिए परिसमाप्ति नहीं होना बन्ध है, और उनके लिए समाप्ति

होना ही मोक्ष। इससे – भोगापवर्ग पुरुष सम्बन्धि कथन से ग्रहणादि भी पुरुष सम्बन्धी जानना चाहिए। उसमें स्वरूपमात्र अर्थ ज्ञान-ग्रहण, उसमें स्मृति-धारण, उसमें विशेषणों का कथन–उह, समारोपित का युक्ति से अपनय–अपोह, उहापह से अवधारण–तत्त्वज्ञान, तत्त्वावधारणपूर्वक हानोपादान– अभिनिवेश; यह सब बुद्धि में वर्तमान, पुरुष में अध्यारोपित सद्भाव और वही फल का भी भोक्ता है ॥१८॥

पूर्वसूत्र में गुणों का दृश्यत्व कहे गये हैं, किन्तु विकारों के विषय में कुछ कहा नहीं, उस न्यूनता का निरास के लिए वर्तमान सूत्र का अवान्तर भेद प्रतिपादन के लिए कर रहे हैं –

विशेषाविशेषलिङ्गमात्राऽलिंगानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

गुणात्मक वंश उसका अलिंगादि विशेषान्त पर्वचतुष्टय बीजांकुरवत् अवस्था भेद अत्यन्त भिन्न नहीं है, इसलिए गुणों में ही सर्वदृश्य का अन्तर्भाव मानना चाहिए; क्योंकि कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है, इसी आशय से विशेषादि क्रम से पर्वों का गणन किया गया है।

उसमें जिस-जिस अविशेष का जो जो विशेष उसको दिखाते हैं, आकाशदिभूत वर्ग शब्दादि तन्मात्राओं का शान्तादिविशेषशून्य शब्दादि धर्मक सूक्ष्मद्रव्य का, अतएव अविशेष संज्ञक विशेष समूह अभिव्यक्त शान्तादि विशेष का परिणाम है, यह यथाक्रम से जानना चाहिए। सारे दस इन्द्रियों का अर्थ ही जिसका अर्थ, ऐसा मन का सहकार से ही शब्दादि ग्राहक होते हैं। अहंकार अविशेषत्व में हेतुगर्भ विशेषण-अस्मिता-अभिमानमात्र-धर्मक श्रवण – स्पर्शन दर्शनादिरूप विशेषरहित अहंकार माना जाता है। इस प्रकार पञ्चभूत और एकादश इन्द्रिय मिलाकर षोडश संख्या वाला गुणों का विशेषाख्य परिणाम है। अविशेष पर्व बताते हैं – शब्दतन्मात्रा इत्यादि से अस्मितामात्र अन्तिम से एक दो तीन करके छह गिनाये गये। जो अविशेष से पूर्वोत्पन्न वह स्वकारण पुंप्रधान के लिंगमात्रज्ञापक है। महत्तत्त्व पुरुष का लिंग चेतनत्व और प्रधान का लिंग त्रिगुण आत्मख्याति है। लिङ्गमात्र महानात्मा सूक्ष्मरूप के कारण संसृष्ट अहंकार आदि रूप से अवस्थान के लिए और उसके बाद वे अविशेष विशेषरूप चरम विवृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। विलोम परिणाम क्रम से लीयमान होता हुआ महत्तत्त्वरूपता को प्राप्ति करके अव्यक्त रूप हो जाते हैं। गुणों की अव्यक्तता का स्वरूप क्या है? जिससे सत्ता और असत्ता निकल गये। सत्ता – पुरुषार्थ क्रिया द्वारा अननुभूत, असत्ता-पुरुषार्थ क्रिया अयोग्यता। महदादि की तरह सत्त्वहीन होने पर भी न अलिंग का, उसकी योग्यता के होने से असत्ता। निःसदसत् = वह महदादिवत् अनुभवयोग्य भावरूप नहीं, असत् भी नहीं – शक्तिरूप होने से अविद्यमान भी नहीं कह सकते। निरसद् – भावपदार्थ विशेष, अव्यक्त = सर्वव्यक्तिहीन, अलिङ्ग— निष्कारण होने से वह किसी के स्वकारण का

लिङ्ग – अनुमापक भी नहीं। इस महानात्मा उस विशेष अविवेष का लिङ्गमात्र परिणाम है, अव्यक्तता भी अलिङ्गमात्र परिणाम है। अलिङ्ग अवस्थित गुणों की सत्ता के विषय में पुरुषार्थ हेतु कारण नहीं है, जिसलिए अलिङ्ग अवस्था में स्थित गुणों के विषय में न पुरुषार्थता कारण है, और उस पुरुषार्थता हेतु विशेषादि का निमित्त कारण है, सुतरां विशेषादि हेतुप्रभव होने से अनित्य है। महदादि सब व्यक्तियों का मूल-स्वभाव होने से गुणसमूह सर्वधर्मानुपाती, सुतरां वह लय नहीं होता, न उत्पन्न ही होता। अतीत अनागत करके या क्षयोदयवती करके तथा गुणान्वयिनी-प्रकाश क्रिया स्थिति मतियों करके महदादि व्यक्तियों से गुण समूह उपजन अपायधर्मक जैसा-लयोदयशीला इव प्रतिभासित होता है। दृष्टान्त – उसकी गैएँ मर जानेसे देवदत्त की दरिद्रता आ गई है, यह स्वरूप हानि से नहीं, ऐसा ही गुणों का उदय और व्यय – समसंगति है। लिङ्गमात्र अलिङ्ग प्रधान का अव्यवहित कार्य, उस प्रधान में लिंगमात्र संसृष्ट, अविभक्त होता हुआ पृथक् हो जाता है। वस्तु स्वभाव से जैसा होना चाहिए उसका अतिक्रमण नहीं करता हुआ यथायोग्य क्रम से ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार से परिणाम क्रमनियत अविशेष विशेष भाव उत्पन्न होते हैं। इस सूत्रभाष्य के आदि में विशेष से उत्पन्न तत्त्वान्तर देखा नहीं जाता। उससे उसका तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता वरं प्रभुताख्या धर्म लक्षणावस्था परिणाम होता है। भौतिक द्रव्य में षडज ऋषभ, नील पीतादि का अन्यथात्व नहीं देखा जाता सुतरां वे भूतों से तत्त्वान्तर नहीं है ॥१९॥

इस प्रकार प्रथम ज्ञातव्य हेयरूप दृश्यको अवस्था के साथ व्याख्यान करके उपादेय द्रष्टा का व्याख्यान निमित्त कह रहे हैं –

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।।२०।।

द्रष्टा – पुरुष दृशिमात्र चेतनामात्र – बुद्धि का प्रतिसंवेदी, सच्चिदानन्द स्वरूप है। यहाँ मात्रशब्द से धर्मधर्मी का निरास किया गया। कोई चेतना आदि को आत्मा का धर्म मानते हैं, वह शुद्ध होता हुआ भी परिणामित्व के अभाव से स्वप्रतिष्ठ होता हुआ भी प्रत्ययानुपश्य – प्रत्यय विषयोपरक्त ज्ञान समूह, वे अनु – अव्यवधान रूप से प्रतिसंक्रमादि के अभाव रूप से देखता है अर्थात् बुद्धि में विषयोपराग होने पर ही पुरुष के सन्निधि मात्र से द्रष्टृत्व है। अतएव शुद्ध – परिणामित्व जड़ात्वादि प्रकृति धर्मरहित, स्वस्वरूपमात्र में प्रतिष्ठित; क्योंकि जहाँ वृत्तिमत्त्व वहाँ ही परिणामित्व, प्रकृति त्रिगुणात्मिका प्रसवधर्मिणी बुद्धि के रूप से परिणाम प्राप्त होते हैं। बुद्धि भी प्रमाणादि वृद्धिरूप से जाग्रत् अवस्था में परिणाम प्राप्त होती है, सुतरां ज्ञात विषया, पूर्ण सुषुप्ति में वृत्तिरहित होने से अज्ञात विषया होती है; अतः परिणाम स्वभाव वाली होती है और पुरुष वैसी वृत्तिरूप परिणाम उपादान वाला नहीं होते हैं, जिससे उनमें परिणामादि की कल्पना की जा सके। चेतनभिन्न पदार्थ ही परिणाम स्वभावत्व और संहतत्त्व माना जाता है। पुरुष

जिसलिए असंहत, अतः वे स्वार्थ और बुद्धि परार्थी संघातरूप होने से। परत्व यहाँ भोक्तृत्व, जो कि भोक्तृरूप स्वार्थ है, वहाँ पर होता है, वही आत्मा। इस प्रकार अत्रिगुणत्व-अविषयत्व-असाधारणत्व-चेतनत्व-अप्रसवधर्मित्व आदि धर्मवान् आत्मा साक्षी होता है; चेतन ही साक्षी और द्रष्टा होते हैं, अचेतन नहीं। अचेतन का तो दृश्यत्व ही युक्त है। जिसके सामने विषय प्रदर्शन किया जाता है, वही साक्षी है। जैसा लोक में भी विवाद के विषय के साक्षी को दिखाया जाता है। इस प्रकार से प्रकृति स्वरचित विषय पुरुष को दिखाती है, इसलिए पुरुष साक्षी है अथवा बुद्धि के साथ साक्षात्सम्बन्ध होने से साक्षित्व होता है। बुद्धि का साक्षी पुरुष ही होता है। बुद्धि में अवगत विषय का अनुसन्धान होता हुआ आत्मा में चेतनत्व ही साक्षीत्व है, सुतरां शुद्ध – कैवल्य योगी, आत्यन्तिक दुःखत्रय का भोगाभाव ही कैलव्य है। अत्रैगुण्य होने से पुरुष स्वाभाविक ही होता है। किन्तु यावत् शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक अविद्या रूप बुद्धि के साथ अभिन्नता प्राप्त की तरह प्रत्ययानुपश्यविषयोपरक्त प्रत्यय रूप हो जाता है, जैसा स्वच्छ सलिल में असंक्रान्त होता हुआ भी शशांक संक्रान्त, (प्रतिविम्ब रूप से संक्रान्त) उसी प्रकार असंक्रान्त होता हुआ भी संक्रान्त प्रतिविम्ब चेतन संक्रान्त जैसा, उससे बुद्धि के साथ अभिन्नत्व प्राप्त हुआ बुद्ध्याख्य प्रत्यय को अनुकार से देखता है। उस समय पुरुष को संसारी कहा जाता है। बुद्धि का भेद प्राप्ति हो जाने पर पुरुष आत्यन्तिक और ऐकान्तिक उभय प्रकार के कैवल्य प्राप्त कर लेता है ॥२०॥

बुद्धि से अतिरिक्त द्रष्टा के विषय में प्रमाण दे रहे हैं –

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥२१॥

द्रष्टारूप पुरुष भोक्ता का कर्मरूपता-योग्यतापन्न दृश्य होता है; द्रष्टा के लिए ही दृश्य की आत्मा होती है, दृश्य के लिए नहीं। यदि कहें – आत्मा आत्मा के लिए नहीं होता। द्रष्टारूप पुरुष का जो कर्म वह कर्म ही दर्शन अर्थात् द्रष्टा के विषयगत वस्तु ही दृश्य है, दर्शन भी सर्व वस्तुओं का प्रयोजन है। यह सर्वसम्मत मत है कि द्रष्टा के लिए ही गुणादि दृश्य की स्वरूप स्थिति होती है। परप्रयोजन सम्बन्धी वस्तु नित्य या अनित्य हो, पर प्रयोजन के बिना क्षणकाल भी स्थायी नहीं रह सकते। प्रयोजन के बिना किसी का भी परार्थ की अवस्थिति देखने को नहीं आता, पुरुष के लिए ही उनकी स्थिति का हेतु सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि दृश्य की सत्ता चेतनाधीन है स्वतः नहीं ॥२१॥

दृश्य का जो स्वरूप यावत् पुरुषार्थ का अनुवर्तन करते हैं, पुरुषार्थ निवर्तित होने पर निवृत्त हो जाते हैं, वह स्वरूप तो जड है, आत्मारूप चैतन्य से अनुभूत है, जिस पुरुष के लिए भोगापवर्ग दे चुका उस पुरुष से भोग – सुखाद्याकार शब्दादि अनुभव नहीं करते हैं, अपवर्ग – सत्त्व और पुरुष का अन्यथा अनुभव इन दोनों को जो नहीं जानता

ऐसी जड़बुद्धि को पुरुष की छाया प्राप्ति हो जाने पर पुरुष की ही हो जाती है, और दृश्य पुरुष को भोगापवर्ग देकर भोगापवर्ग की समाप्ति कर देता है फिर उस पुरुष का दृश्य नहीं रहता, स्वरूप के नाश होने पर भी विनाश नहीं होता । क्यों ?

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।। २२।।

जिस पुरुष का अर्थ कृत है, वह कृतार्थ – उसके प्रति नष्ट होता हुआ भी अनष्ट वह दृश्य । क्यों ? कुशल-अकुशल सब पुरुषों के साधारण हैं अर्थात् कुशल पुरुष के प्रति नाश प्राप्त होने पर भी अकुशल पुरुषों के लिए अकृतार्थ है । सुतरां दृश्य से पर आत्मचैतन्यरूप द्रष्टा का कर्म विषयापन्न लाभ करते हैं अर्थात् श्रुति स्मृति इतिहास पुराण प्रसिद्ध अव्यक्त-अनवयव-एक-अनाश्रय-व्यापि-नित्य-विश्वकार्य शक्तिसम्पन्न, यद्यपि कुशल कर्तृक उसके प्रति कृतकार्य होने से नहीं दिखता है, तथापि अकुशल से भी दृश्यमान होगा नहीं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अन्ध रूप को नहीं देखता तो क्या चक्षुष्यान भी देखे नहीं ? यह भी नहीं कह सकते कि प्रधान के जैसा पुरुष भी एक है, क्योंकि उसके नानात्वका जन्म-मरण, सुख-दुःख का उपभोग और मुक्ति, इस प्रकार संसार व्यवस्था सिद्ध ही है । एकत्व श्रुतियों का प्रमाणान्तर विरोध से कथंचिद् देशकाल विभाग का अभाव से भी उत्पन्न हो सकता है । प्रकृति का एकत्व और पुरुष का नानात्व श्रुति द्वारा ही प्रतिपादन किया गया है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृज्यमाना स्वरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ श्वे.४५

इसी श्रुति का ही सूत्र द्वारा अनुवाद किया गया है । दृश्य नष्ट होता हुआ भी अनष्ट पुरुषान्तर के प्रति होता है । सुतरां दृगदर्शन शक्ति नित्य होने से अनादि संयोग कहा गया है । इस विषय में आगमवादि की सम्मति दिखा रहे हैं – धर्मी गुणों का आत्मा के साथ अनादि संयोग होने से धर्ममात्र महदादि का भी अनादि संयोग होता है। यद्यपि एक-एक महदादि का संयोग अनादि होता हुआ भी अनित्य तथापि सव महदादियों का नित्य पुरुषान्तरों के साथ साधारण होता है, इस विषय में कहे गये– धर्मियों के अनादिसंयोग से धर्ममात्र का भी अनादि संयोग होता है ॥ २२॥ द्रष्टा और दृश्य का व्याख्यान करके संयोग का व्याख्यान करने के लिए सूत्र का आरम्भ करते हैं –

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ।। २३।।

पुरुष स्वामी अपने दृश्य के दर्शन के लिए संयुक्त हैं । सुतरां संयोग से दृश्य की जो उपलब्धि ही भोग है, जो कि द्रष्टा की स्वरूपोपलब्धि नहीं, वह अपवर्ग है । द्रष्टा और दृश्य का भी संवेद्य-संवेदक रूप से व्यवस्थित जो स्वरूपोपलब्धि उसका जो

कारण वही संयोग है। वह भी सहज भोग्य-भोक्तृभाव स्वरूप से भिन्न नहीं है। वे दोनों नित्य और व्यापक होने से स्वरूप से अतिरिक्त कोई संयोग नहीं है। जो कि भोग्य का भोग्यत्व और भोक्ता का भोक्तृत्व अनादि सिद्ध वही संयोग है।

दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्द्वी। अदर्शन संयोग का निमित्त कहा गया है। यहाँ दर्शन मोक्ष का कारण नहीं किन्तु अपदर्शन के अभाव ही बन्धाभाव, वही मोक्ष है। जहाँ दर्शन की सत्ता वहाँ अदर्शन का नाश। इससे दर्शनज्ञानरूप कैवल्य का कारण कहा गया है। तब अदर्शन वस्तु क्या है ? इस पर आठ विकल्प दिखाये गये हैं –

१. क्या गुणों का अधिकार कार्यारम्भण सामर्थ्य अदर्शन है ?

२. क्या द्रष्टारूप स्वामी का दर्शित विषयरूप प्रधानचित्त का अनुत्पाद, अपने में दृश्य के वर्तमान में दर्शनाभाव है ?

३. क्या गुणानामर्थवत्ता—अदर्शन है ?

४. क्या अविद्या प्रतिक्षण प्रलय होने पर, आधारभूत चित्त का प्रत्यय के साथ निरुद्धा अर्थात् स्वचित्त के संस्कार रूप से स्थिति, उस अविद्या प्रत्यय की उत्पत्ति बीजरूप में रहता है— यह अदर्शन है ?

५. क्या स्थिति – संस्कार का क्षय जो कि गति–संस्कार की अभिव्यक्ति, जिसका होने से परिणाम प्रवाह प्रवर्तित होता है और अदर्शन को भी देखा जाता है – वह अदर्शन है ?

६. कोई कहता है – दर्शनशक्ति ही अदर्शन है, वे प्रधान का आत्माव्यापन दर्शन, दर्शन के लिए क्या अदर्शन में प्रवृत्ति, तब तो प्रवृत्ति का शक्तिरूप में अवस्थान ही अदर्शन है।

७. द्रष्टा और दृश्य के धर्म का अदर्शन ? उनके मत में, दर्शन–ज्ञान, द्रष्टा–दृश्य सापेक्ष है, जो दर्शन उसका भेद-अदर्शन, वह उभय का धर्म होता है।

८. कोई कहते हैं – विवेक व्यतिरिक्त जो दर्शन शब्दादि रूप ज्ञान वही अदर्शन है। सब ही विकल्प में पुरुषों के साथ गुण संयोग, इस प्रकार सामान्य विषय की कल्पना करके अदर्शन कहे गये हैं, उससे हेय हेतु दर्शन का निरूपण नहीं होता। वह प्रत्येक पुरुष के साथ बुद्धि का संयोग के निरूपण से ही साध्य है। वह चतुर्थ विकल्प में दिखाये गये – समीचिन है ॥ २३॥ संयोग का कारण कहते हैं –

तस्य हेतुरविद्या ।। २४।।

जो कि प्रत्यक् चेतन का – आत्मविपरीत अनात्मभाव को जानने वाले प्रत्यक्, तद्रूप चेतन का अर्थात् प्रत्येक पुरुष का स्वबुद्धि संयोग, उसका हेतु अविद्या है। यहाँ अविद्या – विपर्यय ज्ञान वासना अर्थात् विपर्यय प्रत्यय का मूल हेतु वे ही अपना अनुरूप प्रत्यय को उत्पन्न करते हैं, उससे प्रतिक्षण बुद्धि संयोग होता है। जिससे

विपर्यस्तज्ञानवासना बुद्धि पुरुषख्याति रूप कार्यावसान प्राप्त हो अर्थात् पुरुषख्याति होने पर पर वैराग्य से निरुद्धा बुद्धि फिर लौटती नहीं। इस विषय में कोई षण्डकोपाख्यान कहते हैं – "मुग्धा भार्या षण्डक पति को कहती है – आर्यपुत्र ! मेरी भगिनी अपत्यवती है, मैं क्यों नहीं ? षण्डक उसको कहते हैं – तु मरने पर मैं अपत्य उत्पन्न करुँगा।" इसी प्रकार विद्यमान ज्ञान चित्त की निवृत्ति कर नहीं पाता है, विनष्ट होकर करेगा इसमें क्या प्रत्याशा है ? इस विषय में आचार्यकल्प कहते हैं – ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष, न कि ज्ञान की विद्यमानता। जिसलिए अदर्शन से बुद्धि की प्रवृत्ति उससे अदर्शन के कारणाभाव से अर्थात् अदर्शन रूप कारण उसका अभाव से बुद्धि की निवृत्ति होती है। अदर्शन ही बन्धन का कारण – दृश्य संयोग का कारण। वह विवेकदर्शन से निवृत्त होता है – जैसी अग्नि स्वआश्रय को दग्ध कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है, वैसा ही दर्शन अदर्शन को विनाश करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। मोक्ष विषय में – चित्त की निवृत्ति ही मोक्ष है, अत उपहासक का मतिभ्रम अयुक्त ही है ॥ २४॥

इस प्रकार विरोधिनी विवेकख्याति से परम वैराग्य द्वारा पञ्चक्लेशों का दग्धबीज भाव हो जाने पर बुद्धितत्त्व का स्वकारण त्रिगुणात्मक प्रधानों आत्यन्तिक लय हो जाता है, अत: –

तदभावात् संयोगाभावो हानं, तद् दृशेः कैवल्यम् ।। २५।।

अविद्या के आत्यन्तिक लय से बुद्धि और पुरुष का संयोग का भी अभाव– आत्यन्तिक लय दु:खरूप बन्धन का उपरम को हान कहते हैं। दु:ख का कारण संयोग के निवृत्त होने पर ऐकान्तिक और आत्यान्तिक दु:खाभाव ही हान है, उस समय पुरुष स्वरूप में मग्न हो जाता है। सुतरां वह द्रष्टा पुरुष का कैवल्य मोक्ष—फिर गुणों के साथ संयोग नहीं। पुरुष की बुद्धि के साथ अमिश्रीभाव अर्थात् महदादि की अव्यक्तता प्राप्ति। उससे पुरुष की केवलता अर्थात् द्वैतहीनता हो जाती है ॥ २५॥

जो आत्यन्तिक दु:खत्रय का अभावात्मक हान कहा गया, उसका उपाय कथन करते हैं –

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।। २६।।

हान – आत्यन्तिक दु:खत्रय का अभाव, उपाय – साक्षात्कार, विवेक-ख्याति- सत्त्व और पुरुष की भेदबुद्धि, अविप्लवा – विप्लव, मिथ्याज्ञान विरोधीरूप से जहाँ नहीं है, वह अविद्यादि लेशरहित होता हुआ ही कारण होता है। ख्याति – अनिवृत्त मिथ्याज्ञान अर्थात् अहं बुद्धि, ममत्व बुद्धि, अस्मिता बुद्धि रूप विपर्यय प्रत्यय से प्लवते–जब विपर्यय संस्कार क्षय से दग्धबीजभाव प्राप्त होकर वन्ध्य प्रसव हो जाता है, तब रजस पर सत्त्व का वैशारद्य होने पर वशीकार संज्ञा वैराग्यावस्था में विवेक प्रत्यय प्रवाह सुनिर्मल हो जाता है, वही विवेकख्याति अविप्लवा वही हानोपाय है। उससे

मिथ्याज्ञान का बीजभाव की प्राप्ति, पुनः अप्रसव, यही मोक्ष मार्ग का हानोपाय है ।।२६।। विवेकख्याति का अविप्लवाख्य निष्ठा का लक्षण बता रहे हैं –

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।। २७।।

उस प्राप्त विवेकख्याति पुरुष की सात प्रकार की अन्तिम स्थिति वाली प्रज्ञा–बुद्धि उत्पन्न होती है । अर्थात् विवेकज्ञान द्वारा योगी के चित्तका आवरण और मल सर्वथा नष्ट हो जाता है, तब योगी के चित्त में सात प्रकार की बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। उनमें चार तो कार्यविमुक्तिसंज्ञा, और तीन चित्तविमुक्तिसंज्ञा । कार्यविमुक्तिसंज्ञा में **पहली–** जिज्ञासा निवृत्तिरूपा – मैंने सर्व ज्ञातव्य जान लिया, कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहा । अर्थात् हेय का सम्यग्ज्ञान से तद्विषयक प्रज्ञा की निवृत्ति । **दूसरी–** जिहासा निवृत्ति–मैंने द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव कर दिया, अब कुछ शेष नहीं रहा । **तीसरी–** प्रेप्सा निवृत्ति – मैंने कैवल्य प्राप्ति से सब कुछ प्राप्त कर लिया, प्राप्तव्य कुछ भी शेष नहीं रहा । अर्थात् निरोध का अधिगम से परगति विषयक प्रज्ञा की समाप्ति हो गयी । **चौथी–**चिकार्षा निवृत्ति – मैंने विवेक ज्ञान से सब कर्तव्य कर लिया, कोई कार्य शेष नहीं रहा अर्थात् निष्पादित, विवेकख्यातिरूप हानोपाय पुनः भावनीय अन्य कुछ नहीं रहा, प्रज्ञा का प्रान्तता देख लिया । ये चार प्रयत्न निष्पाद्य विमुक्ति कही जाती है ।

तीन चित्तविमुक्ति संज्ञा में पहली – चित्तकृतार्थता – चित्त ने अपना भोग और मोक्ष देना पूरा कर दिया । दूसरी – गुणलीनता – बुद्धि के सुखादि गुणसमूह स्वकारण बुद्धिमें प्रलयाभिमुख होकर चित्तके साथ अस्त हो गये, अर्थात् बुद्धिको मेरा और प्रयोजन नहीं है इस प्रकार पर वैराग्य से प्रलीयमान बुद्धिका पुनः उदय नहीं होगा ऐसी ख्याति । तीसरी – आत्मस्थिति – इस अवस्था में गुण सम्बन्धातीत स्वरूपमात्र ज्योति अमल केवली पुरुष इस सप्तविध प्रान्तभूमि प्रज्ञाका देखता हुआ कुशल बन जाते हैं। श्रुति भी कहती है – "पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ।।" कुशलयोगी जीवन्मुक्त हो जाते हैं, इसका शाश्वती दुःखप्रहाणि हो जाते, दुःखातीत अवस्थामें अवस्थान होने से दुःख उनको स्पर्श भी नहीं कर सकता – "यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते" ।। २७।। संयोगाऽभावात्मक हान का हेतुभूत विवेकख्याति के कारण प्रदर्शन कर रहे हैं—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।। २८।।

योगाङ्ग यमनियमादि वक्ष्यमाण आठ संख्यक अंगो के अनुष्ठान से अर्थात् ज्ञानपूर्वक सादर निरन्तर अभ्यास से जाति आयु भोगजनक पञ्चक्लेशात्मक अविद्या नामक अशुद्धि का क्षय अर्थात् कारण में लय होता है । जैसे-जैसे साधन का अनुष्ठान

होता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धि तनुता प्राप्त होता है, जैसे-जैसे अशुद्धि का क्षय होता है, वैसे-वैसे ज्ञानकी दीप्ति बढ़ती जाती है, और सत्त्वपुरुष अन्यथाख्याति पर्यन्त बढ़ता जाता है और योगाङ्गों के अनुष्ठान से अविद्याक्षय के कारण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति की, तत्त्वज्ञान द्वारा विवेकख्याति की प्राप्ति । ऐसा शास्त्र में कहा गया है –

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ।।

ज्ञान की वृत्तिरूप की उत्पत्ति रूप अतिशय से उपादान होने पर मन कारण होता है । मन की स्थिति कारणरूप पुरुषार्थता अर्थात् अस्मिता से उत्पन्न मन तब तक अवस्थित रहता है जब तक दो प्रकार पुरुषार्थ को निर्वर्तित करता है । अभिव्यक्ति– प्रत्यक्षज्ञान निमित्त इन्द्रिय द्वारा स्वतः वा विषय की संस्क्रिया, उसका कारण जैसा रूप का आलोक । विकार–एकाग्र मन का विषयान्तर स्वगोचर रागादि विकार रूप अतिशय से कारण होता है । प्रत्ययहेतु रूप अनुमापक कारण – जैसा धूमज्ञान से अग्निज्ञान की। प्राप्ति – विवेकख्याति के योगाङ्गों का अनुष्ठान । वियोग – अवान्तर कार्य की अपेक्षा से विवेकख्याति की अशुद्धि । अन्यत्व – अग्नि पाक का अन्यत्व कारण – कठिन अवयव सन्निविष्ट तण्डुलादिक प्रशिथिल अवयव संयोग लक्षण विकार । धृति – एक ही स्त्री प्रत्यय की अविद्या से मूढ़ता, द्वेष से दुःखत्व, राग से सुखत्व, माध्यस्थ से तत्त्वज्ञान, शरीर इन्द्रियों से रक्षा की आवश्यकता होती है ॥ २८॥ यमादि आठों योङ्गागों का अवधारण करते हैं –

यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।। २९।।

उसमें – यमपञ्च, नियम भी पञ्च, आसन चतुरशीति, प्राणायाम त्रिधा, ये सब आगे बतावेंगे । प्रत्याहार – इन्द्रियादिकरणों की जो वृत्तियों उनको विषयों से व्यावृत्ति, धारणा – स्थूल-सूक्ष्मादि विषयस्वरूपकरण वृत्तियों में धारण; ध्यान-स्थूल सूक्ष्मादि जो कुछ भी स्वरूप वृत्तियाँ निरन्तर चिन्तन करते हैं, समाधि ध्येय वस्तु को चित्तवृत्ति में सम्यग् आधान करते हैं, इस आठ प्रकार योग का अंग कहे जाते हैं ॥ २९॥ क्रम से इनका स्वरूप बता रहे हैं –

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।। ३०।।

अहिंसा – सर्वथा, सर्वदा सर्वभूतों से अनभिद्रोह । अर्थात् प्राण वियोग प्रयोजन रूप व्यापार हिंसा, यह सर्व अनर्थका हेतु, उसका अभाव अहिंसा, हिंसाका सर्वप्रकार से परिहार योग्य होने से प्रथम उसका अभावरूप अहिंसा का निर्देश किया गया है। सत्य – मन वाणी का यथार्थत्व, अर्थात् यथादृष्ट, यथा अनुमित, यथाश्रुत तथा मनवाणी होनी चाहिए अस्तेय - अशास्त्रपूर्वक पर द्रव्यका ग्रहण-स्तेय उसका प्रतिषेध-अर्थात्

केवल चौर्य विरति मात्र ही नहीं, किन्तु अग्रहणीय विषय में स्पृहा भी न होना। ब्रह्मचर्य – गुप्त इन्द्रिय उपस्थ का संयम-सर्वप्रकार से मैथुन त्याग । अपरिग्रह – उपार्जनरक्षणादि में दोष और दुःख के कारणोंसे देहरक्षा के अतिरिक्त विषयों का अस्वीकार-प्राणयात्रा का निर्वाह मात्र ।। ३०।। पूर्वोक्त यमादिका विशेष प्रतिपादक सूत्रका पूरण करके कहते हैं –

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।। ३१।।

अहिंसा – जात्यवच्छिन्ना मत्स्य मारण वाले के लिए मत्स्य मारण में हिंसा कर सकते हैं, अन्यत्र नहीं, देशावच्छिन्ना – तीर्थ में मारेंगे नहीं, कालावच्छिन्ना-चतुर्दशी आदि पुण्यतिथि आदि में न मारें, तीनों से उपरत होकर समयावच्छिन्ना-देव ब्राह्मणों के लिए ही मारेंगे अन्यत्र नहीं । इस प्रकार अहिंसादि सर्वथा ही परिपालन करना चाहिये। सभी विषयों में सब जात्यादिलक्षण भूमियों में विदित सार्वभौम महाव्रत कहे जाते हैं ।। ३१।।नियम को कहते हैं –

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।। ३२।।

शौच दो प्रकार का होता है, बाह्य और आभ्यन्तर । जल मृत्तिका द्वारा शरीर वस्त्रादि क़ी शुद्धि करना वाह्य है । मित्रता की भावना से अन्तःकरण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना आभ्यन्तर है । सन्तोष-सन्निहित साधनसे अधिक प्राप्तिकी अनिच्छा तप-द्वन्द्वज दुःखका सहन करना, स्वाध्याय-मोक्षशास्त्र का अध्ययन अथवा प्रणव या इष्टमन्त्रादिका जप, ईश्वरप्रणिधान-ईश्वरमें सर्वकर्मार्पण-कर्मफलाभिसन्धिशून्यता, निष्काम योगी का लक्षण कहते हैं – सर्वावस्था अवस्थित योगी स्वस्थ आत्मस्मृतिमान, चिन्ताजालहीन, अविद्यामूलक कर्म से निवृत्त, ससंस्कार कर्म ईक्षमाण, नित्यतृप्त, निष्कामता निःसंकल्पता जनितात्मवृत्तियुक्त, अतः अमृतभोगभागी अमृतस्वरूप आत्मा का अधिगम से प्रमाद रहित अतः अमृत भोगभाक् होते हैं ।। ३२।। उक्त यमनियमों में वक्ष्यमाण विघ्नों की निवृत्ति उपाय प्रतिपादक सूत्र को पूर्ण करके अवतरण करते हैं –

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।। ३३।।

जब ब्राह्मण की हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न है, कैसे – अपकारी को मैं मार डालूँगा असत्य भी कहूँगा, दूसरेकी वस्तु भी ले लूँगा, अन्य स्त्री के सतीत्व नष्ट भी करूँगा, इसका परिग्रह से स्वामी बन जाऊँगा इस प्रकार उन्मार्ग प्रवण वितर्क द्वारा अतिदीप्त होकर बाध्यमान उसकी प्रतिपक्ष भावना करें – घोर संसारानलमें मैं दग्ध होता हुआ सर्वभूत उभय प्रदान रूप योगधर्म का शरण प्राप्त हुआ, ऐसा मैं वितर्क को त्याग कर पुनः श्ववृत्ति ग्रहण करने जा रहा हूँ, जैसे श्व वान्तावलेही होता है वैसा मैं भी जिस संसार को त्याग दिया उसको पुनः ग्रहण करने जा रहा हूँ , इस प्रकार भावना करें ।। ३३।।

अभी वितर्क का स्वरूप-भेद-प्रकार-कारण-फल का क्रम से कथन करते हैं –

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदितालोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।। ३४।।

पूर्वोक्त हिंसादि वितर्क का तीन प्रकार कृत-कारितानुमोदित, उसमें जो स्वयं निष्पन्न करता है वह कृत, करो करो इस प्रकार प्रयोजक व्यापार से जो सम्पन्न कराता है वह कारित दूसरा, कोई करने पर जो कहता है – अच्छा किया वह अनुमोदिता, ये तीन प्रकार परस्पर व्यामोह निवारण के लिए कहा जाता है । नहीं तो मन्द बुद्धि वाले ऐसा मानते हैं, मैंने स्वयं हिंसा किया नहीं, अतः मेरा कोई दोष नहीं है । काम, क्रोध, मोहपूर्वक ही इसका कारण प्रतिपादित होता है । यद्यपि लोभ को प्रथम निर्देश किया गया है, तथापि सर्वक्लेशों में मोह का अनात्मा में आत्माभिमानरूप निदान होने से, मोह होने पर ही स्व पर विभागपूर्वक, लोभ क्रोधादि का उद्भव होता ही है । अर्थात् मोहपूर्वक ही सब दोषों की उत्पत्ति मानी जाती है । लोभ-तृष्णा, कृताकृत्य विवेक का उन्मूलक प्रज्वलनात्मक चित्तधर्म, प्रत्यक् कृतादि भेद्र से तीन प्रकार होता हुआ भी हिंसादि मोह कारण रूप से तीन भेद युक्त हैं, इनका भी फिर अवस्था भेद से तीन प्रकार– मृदुमध्याधिमात्रा । मृदु-मन्द, न तीव्र, न मध्य, मध्य – न मन्द न तीव्र, अधिमात्रा-तीव्रा, पीछे नौ भेदयुक्त बताया गया है, इस प्रकार तीन-तीन भेद होने पर सप्तविंशति होते हैं । मृदु आदि भी प्रत्येक मृदुमध्य अधिमंात्रा भेद से तीन प्रकार होते हैं । इसको यथायोग्य योजना कर लेना चाहिए । जैसा मृदुमृदु मृदुमध्य मृदुतीव्र इत्यादि। इनका फल – अनन्त अज्ञान अनन्त दुःख । प्रतिकूलसे अवभासमान राजस चित्तधर्म । अज्ञान मिथ्याज्ञान – संशय विपर्यय रूप, ये दुःख और अज्ञान अनन्त और अपरिच्छिन्न फल देने वाले हैं । इस प्रकार उनका स्वरूप कारणादि भेद से जानने वाले योगियों से प्रतिपक्ष भावना द्वारा परिहार करना चाहिए ॥ ३४॥

उक्त यमनियमादि का अपवादक वितर्क का प्रतिपक्ष भावना से हानि कहा, सम्प्रति बिना विघ्न यमनियमादि के अभ्यास से तत् तत् सिद्धि परिज्ञान सूचक चिह्नो का उपन्यास करते हैं, जिसका परिज्ञानसे योगी तत्र तत्र कृतकृत्य कर्तव्यमें प्रवृत्त होता हैं । जिसे योगीका प्रतिपक्ष भावनासे विषय सान्निध्य कालमें भी अप्रसव स्वभाव होते हैं । तत् तत् कृत वितर्क हानि कृत ऐश्वर्य प्राप्त होता है –

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।। ३५।।

योगसाधक की हिंसा न करने की भावना दृढ़ हो जाने पर उस योगी के निकट सब प्राणी वैर त्याग कर देते हैं ॥ ३५॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। ३६।।

सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी क्रियमान क्रिया यागादि का फल स्वर्गादि

का आश्रय बन जाता है । अर्थात् योगी की वाणी भक्तों को स्वर्गादि वरदान में समर्थ हो जाती है । जिसको जैसा वरदान या शाप देता है, वह सत्य हो जाता है ।। ३६।।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। ३७।।

चौर्य न करने की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सब प्रकार की वस्तुएँ संकल्प करते ही योगी के सामने उपस्थित हो जाती है ।। ३७।।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। ३८।।

ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर योगी की बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर में अपूर्व शक्ति उत्पन्न होती है ।। ३८।।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।। ३९।।

योगी में अपरिग्रह की दृढ़ स्थिति हो जाने पर, मैं जन्मान्तर में कौन जातीय, कहाँ, कौन और क्या कार्य करता था, ये सब ज्ञान आविर्भूत हो जाते हैं ।। ३९।। यमों की सिद्धियाँ कहकर नियमों की सिद्धियाँ वर्णन करते हैं –

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। ४०।।

शौच के पालन से योगी को अपने शरीर के अंग में भी घृणा और वैराग्य हो जाता है और दूसरे मनुष्य से भी उसकी संसर्ग करने की इंच्छा नहीं रहती, क्योंकि संसर्ग से दोषगुण आ जाते हैं ।। ४०।। आभ्यन्तर शुद्धि का फलान्तर कहते हैं –

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।। ४१।।

चित्तमलों का क्षालनसे चित्तसत्त्व अमलभाव प्राप्त होता है, सैमनस्यसे अन्तःकरण की शुद्धि, मनकी प्रसन्नता, चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रियका वशमें होना – एक महात्मा की उक्ति –

"मन लोभी मन लालची मन लम्पट मन चोर ।
मनके मते न चलिये पलक पलक में ओर ।।"

उससे निर्मल बुद्धिसत्त्वका आत्मदर्शनकी योग्यता अर्थात् पुरुषका स्वरूप अवधारणकी योग्यता लाभ होता है ।। ४१।। सन्तोषका फल कहते हैं –

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।। ४२।।

सन्तोष से विषयसुख की अपेक्षा प्रकृष्टसुख निरतिशय ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । कहते भी हैं –

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ।।'

कामों से – लौकिक विषयों से जो सुख, और दिव्य संकल्प मात्र से उत्पन्न जो विषयजन्य सुख, तृष्णाक्षय से अभिव्यक्त जो सुख उसका षोलहवाँ अंश भी नहीं है – किसी ने कहा है – जिसको कछु न चाहिए वह शाहनशाह ।। ४२।। तपस्या का फल कहते हैं –

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ।। ४३।।

योगी के तप के प्रभाव से पापजन्य अशुद्धि रूप आवरण मल हट जाने से कायसिद्धि-अणिमादिसिद्धि, इन्द्रियसिद्धि-सूक्ष्म-विप्रकृष्ट वस्तुओं का दर्शनादि सामर्थ्य हो जाता है ।। ४३।। स्वाध्याय का फल कहते हैं—

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः ।। ४४।।

वेदादिशास्त्र का स्वाध्याय या इष्टमन्त्रादि का जप से अपने इष्ट देवता-सिद्ध-महर्षियों का दर्शन मिल जाता है । भाष्य में भी कहा है –

'स्वाध्यायात् योगमासीतयोगात् स्वाध्यायमानयेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।'

स्वाध्याय से योग प्राप्त करें, योग स्वाध्याय को कराते हैं ।

स्वाध्याय और योग सम्पत्ति से परमात्मा प्रकट होते हैं ।। ४४।। ईश्वर प्रणिधान का फल कहते हैं –

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।। ४५।।

ईश्वरार्पित सर्वभावरूप उनका प्रणिधानशील का सुख से ही समाधि की सिद्धि होती है, जिस समाधि सिद्धि से सम्प्रज्ञात लाभ होता है, अर्थात् अहिंसादिशील सम्पन्न व्यक्ति ही ईश्वर प्रणिधान में समर्थ होते हैं, अन्यथा नहीं । उक्ति भी है –

"ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमाशौचं तपोदमः ।
सन्तोषःसत्यमास्तिक्यं व्रतांगा निर्विशेषतः ।
एकेनाप्यर्थहीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ।।" ।। ४५।।

आसन का वर्णन करते हैं –

स्थिरसुखमासनम् ।। ४६।।

स्थिर निश्चल और सुखकर जो आसन वही आसन ठीक है । आसन बहुत होते हैं, उसमें सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन और स्वस्तिकासन भजन के लिए विशेष उपयोगी है । आसन का स्थिर करने का उपाय कहते हैं –

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।। ४७।।

प्रयत्न शैथिल्यसे और अनन्त समापत्तिसे आसन स्थिर और सुखदायी होते हैं ।

जब-जब आसन करने की इच्छा होवे प्रयत्न शैथिल्य में भी अक्लेश से ही आसन बँध जाते हैं। जब आकाशादिगत आनन्त्य में चित्त को लगाया जाय, उसका चिन्तन करते ही मन तादात्म्यापन्न होने लगता है, और देह से अहंकार भाव चले जाते हैं और देह दुःख भूल जाते हैं। इस प्रकार आसन जय होने पर समाधि का अन्तराय क्रमशः दूर होने लगते हैं ॥ ४७॥ ऐसा योगाभ्यास करने का फल कथन करते हैं –

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।। ४७।।

शरीर का स्थिर होने पर योगी सहसा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, भुख-प्यास आदि द्वन्द्व द्वारा अभिभूत नहीं होते हैं ॥ ४९॥ आसन जय के बाद प्राणायाम का लक्षण बता रहे हैं –

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्विच्छेदः प्राणायामः ।। ४९।।

आसन जय होने पर वाह्यवायुका आनयनरूप प्रश्वास, और कोष्ठवायु का निःसरणरूप निःश्वास और दोनों की गति विच्छेद अर्थात् उभयाभावरूप कुम्भक को प्राणायाम कहते हैं ॥ ४९॥ प्राणायाम का भेद कहते हैं –

स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।। ५०।।

वह प्राणायाम वाह्यवृत्ति अभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति रूप तीन प्रकार के होते हैं। वाह्यवृत्ति श्वास रेचक, अन्तर्वृत्ति प्रश्वास पूरक, अन्तर स्तम्भवृत्ति कुम्भक, जैसे जल से घड़ा भरने से निश्चल हो जाता है ऐसा ही प्राणवायु को भीतर धारण क़र लेने से शरीर निश्चल हो जाता है। तीन प्रकार यह प्राणायाम देशकाल और संख्या से उपलक्षित दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं। देश से उपलक्षित द्वादश अँगुली, काल से उपलक्षित षट्त्रिंशत मात्रा, संख्या के उपलक्षित – कितने बार किया। इस प्रकार श्वास प्रश्वास द्वारा उद्घात होता है। उद्घात अर्थात् नाभिमूल से वायु को प्रेरण करके मस्तक तक अभिहनन करना ॥ ५०॥

अब केवल कुम्भवकरूप चतुर्थ प्राणायाका विशेषत्व कहते हैं –

वाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।। ५१।।

प्राण का वाह्यविषय नासिका से द्वादशान्तादि, अभ्यन्तर विषय हृदय-नाभिचक्रादि, थें दोनों विषयों को आक्षेप करके— पर्यालोचन करके जो स्तम्भरूप गति विच्छेद वह चतुर्थ प्राणायाम हैं। तृतीय कुम्भकसे इसका यह विशेष है कि— वाह्याभ्यान्तर विषय का पर्यालोचन करके सहसा तप्तपल पर निपतित जल विन्दु की तरह युगपत् स्तम्भवृत्ति निष्पन्न होता है। इसका भी विषयद्वय आक्षेपक निरोध, यह भी पहले जैसा देशकाल संख्या द्वारा उपलक्षित जानना चाहिए ॥ ५१॥

प्राणायाम का योगानुकूल फल कथन करते हैं –

ततःक्षीयते प्रकाशावरणम् ।। ५२।।

प्राणायाम अभ्यास करने वाले योगी का विवेकज्ञान्रूप प्रकाश का आवरणरूप मल, क्लेश मूलक कर्म, प्राणायाम द्वारा अर्थात् प्राणों का स्थैर्य होने पर देह का भी स्थैर्य होता है, उससे कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, और कर्मों की निवृत्ति से कर्मसंस्कारों का भी क्षय, उससे ज्ञान की दीप्ति होती है। इस विषय में पूर्वाचार्य की सम्मति देखते हैं – "महामोहमय इन्द्रजालसे प्रकाशशील सत्त्व को आवृत्त करके अकार्य में नियुक्त करते हैं।" इस प्रकाश आवरणरूप कर्म जो कि संसार में बाँधते हैं, वह प्राणायाम से दुर्बल होता है, और प्रतिक्षण क्षय होता जाता है। यदि कहें, प्राणायामसे ही यदि पापों का क्षय हो तो तप का क्या प्रयोजन है ? इस विषयमें आगमियों का अनुमोदन दिखाते हैं। प्राणायामसे श्रेष्ठ तप नहीं है – क्योंकि उससे मल की विशुद्धि और ज्ञान की दीप्ति होती है।" इसलिए कहा न कि सर्वज्ञरूप से क्षय होता है, अतः प्रकृष्टरूप से क्षयके लिए तपका प्रयोजन है ॥ ५२॥ प्राणायाम के फलान्तर का कथन करते हैं –

धारणासु च योग्यता मनसः ।। ५३।।

प्राणायाम ही मन को स्थिर करता हुआ धारणा के योग्य बनाता है ॥ ५३॥ प्रत्याहार का अवतरण कर रहे हैं –

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार–
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।। ५४।।

चित्त भी मोहनीय, रञ्जनीय, कोपनीय शब्दादि विषयों द्वारा जब प्रयुक्त नहीं होता, और चित्त का असंयोग से इन्द्रियाँ भी संयुक्त नहीं होती, इसी को इन्द्रियों के चित्त का स्वरूपानुकार कहते हैं, उस समय चित्त तत्त्वमें अभिनिवेश करता है, उस समय इन्द्रियाँ वाह्य विषयों में अनुकार नहीं होती इसलिए कहा अनुकार के जैसा। साधारण धर्म का स्वविषय में असंप्रयोग चित्तानुकार निमित्त ही दोनों का निरोध और हेतु प्रयत्नतुल्य, यही सादृश्य है – जैसा राजा मधुकर को अन्य मक्षियाँ अनुकरण करती हैं, वैसा ही चित्त के निरोध से इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है। सुतरां प्रत्याहार इन्द्रिय धर्म है ॥ ५४॥ प्रत्याहार का फल कथन करते हैं –

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।। ५५।।

प्रत्याहारमें अभ्यस्त हो जाने पर इन्द्रियाँ आयत्ताधीन हो जाती हैं, वाह्यविषय में जाने पर भी उसमें लगाव नहीं होता। इस प्रकार प्रथम पाद में उक्त लक्षण के योग का अंगभूत क्लेशों का तनुकरण रूप फल को क्रियायोग द्वारा कथन करके क्लेशों का उद्देश्य, स्वरूप, कारण फल, क्षेत्र को कथन करके कर्मों का भी भेद, कारण, स्वरूप

और फल का कथन करके विपाक का स्वरूप और कारण कहा गया है, उससे क्लेशादि त्याज्य होने से, ज्ञान से बिना त्याग असम्भव होने से, ज्ञान भी शास्त्रायत्त होने से, शास्त्र का भी हेयहान कारण होने से उपादेय उपादान कारण बोधक हेय का चतुर्व्युह होने से हेय कां भी हान के व्यतिरेक से स्वरूप की अनिष्पत्ति होने से हान सहित चतुर्व्युह स्वस्वकारण सहित कथन करके, उपादान कारणभूत विवेकख्यातिका काणभूत अन्तरंग बहिरंग भावसे स्थित योगांग यमादिका स्वरूपफल सहित व्याख्यान करके आसनादि से धारणा पर्यन्त परस्पर उपकारी उपकारक भावसे अवस्थित उद्देश्य का कथन करके प्रत्यक् का लक्षण बताकर फल कथित हुआ है । इस प्रकार योग यम नियमादि से प्राप्त बीजभाव आसन प्राणायाम से अंकुरित, प्रत्याहार से पुष्पित धारणा ध्यान समाधिसे फलीभूत दिखाए गये हैं ॥ ५५॥

इति श्रीपातञ्जल योगशास्त्र में सच्चित्तीर्थविरचित ।
रहस्य चन्द्रिका टीका में द्वितीय साधन पाद ॥

ॐ

योगदर्शन

तृतीय विभूतिपाद

प्रथम पाद में समाधि, द्वितीय पाद में उसका साधन, इस तृतीय पाद में उसकी प्रवृत्ति का अनुगुण श्रद्धा उत्पादन के कारणीभूत विभूति समूहों को वताना चाहिये, विभूति भी संयम साध्या है, संयम भी धारणा ध्यान समाधि का समुदय रूप है, इस प्रकार विभूति साधनरूप से यमनियम आसन प्राणायाम प्रत्याहारात्मक पाँच बहिरंग साधन कह कर, धारणा ध्यान समाधि रूप संयम को कथन करने के निमित्त समाधिकारण ध्यान का कारणीभूत धारणा को प्रथम कह रहे हैं –

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा ।। १।।

स्थूल-सूक्ष्मादि किसी भी विषय देशमें ध्येय का चिन्तन करके उस ध्यानाधार देशमें चित्तको एकाग्रतापूर्वक स्थापन ही धारणा हैं । उसको स्पष्ट करते हैं–नाभिचक्र, हृदय पुण्डरीक, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि देशों में, या बाहर के किसी विषयमें, तद्विषकवृत्तिसे चित्तको बाँधना ही धारणा है ।। १।। धारणासाध्य ध्यानका लक्षण बता रहे हैं –

तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम् ।। २।।

धारणा – आयत्त देश में जहाँ चित्त को धारण (एकाग्र) किया, वहाँ प्रत्यय के ज्ञान की जो एकतानता तैलधारावत् एकतान प्रवाह– विसदृश परिणाम परिहार द्वारा जो कि धारणा में अवलम्बन किया, उस अवलम्बनरूपसे निरन्तर असंमिश्र जो वृत्ति प्रवाह वह ध्यान कहलाता है ।। २।। ध्यान साध्य समाधि का लक्षण कह रहे हैं –

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। ३।।

ध्यान ही प्रत्ययात्मक स्वरूपसे ध्येयके स्वभाव के आवेशसे ध्येयाकार निर्भास होता हुआ शून्य सा हो जाना ही समाधि है । ध्यातृध्येयध्यानरूप स्वरूपत्रयनिर्भासक— ध्यान, और ध्यातृ-ध्येय-ध्यानरूप स्वरूपत्रय रहित-समाधि; ध्यान और समाधि में यह विशेष है ।। ३।। और धारणा ध्यान समाधिकी पारिभाषिक संज्ञा दिखा रहे हैं –

त्रयमेकत्र संयमः ।। ४।।

एक ही विषय में क्रियमाण तीनों साधन संयम कहलाता है । अर्थात् ध्येय विषय

का सर्वतः पुनः पुनः क्रियमाण धारणादि को संयमकी परिभाषा दिया जाता है ॥ ४॥
संयम विषयरूप साधन अभ्यासका फल कथन करते हैं –

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ।। ५।।

उस संयम की जय से दृढ़ीकरण से समाधि प्रज्ञा – विवेकख्याति का आलोक– वैशारद्य होता है अर्थात् जैसा-जैसा संयम का स्थिर पद होता है वैसा-वैसा विवेकख्याति विशारदा स्वच्छ प्रवाह होता है ॥ ५॥ संयम अनुष्ठान का विशेष उपयोग बता रहे हैं-

तस्य भूमिषु विनियोगः ।। ६।।

संयम का स्थूलादि पूर्व-पूर्व भूमिका जय के अनन्तर सूक्ष्मादि उत्तरोत्तर भूमिका में योगियों द्वारा नियोजित होना चाहिए। जिस योगी ने निम्नभूमि पर आयत्त नहीं किया वह अनन्तर भूमि को लंघन करके प्रान्तभूमि में संयम करता है। उसको उसमें संयम तो होता ही नहीं, प्रज्ञालोक तो अतिदूर की बात है क्योंकि सोपानारोहणादि में, क्रम से ही आरोहण देखा जाता है। ईश्वर की कृपा से यदि उत्तरभूमि की जय हो जाय तो अधर भूमियों में परचित्त ज्ञानादि में संयम युक्त नहीं है। क्योंकि उस विषय को ईश्वर से ही ज्ञात हुआ, इसीलिए कहा जाता है –

'योगेन योग ज्ञातव्य योगो योगात् प्रवर्तते ।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥'

योग से ही योग जानना चाहिए, योग से ही योग में प्रवृत्ति होती है। जो कि अप्रमत्त योगी वही चिरकाल योग का आनन्द की प्राप्त होता है क्योंकि योग को उपाध्याय– गुरु कहा गया है अर्थात् योगबल से ही वह सब जान जाते हैं ॥ ६॥

योग का अङ्गसमूह अविशेष होने पर क्यों संयम को बार-बार विनियोग बताते हैं? इसलिए कहते हैं –

त्रयमन्तरगं पूर्वेभ्यः ।। ७।।

पूर्वोक्त यमनियमादि योगांगों की अपेक्षा ये तीनों योगसाधन-धारणा-ध्यान-समाधि, सम्प्रज्ञात समाधि के निमित्त अन्तरंग साधन हैं; क्योंकि इन तीनों योगसिद्धि में अत्यन्त निकट सम्बन्ध रखते हैं ॥ ७॥ समाध्यन्तरकी अपेक्षासे संयम काभी बहिरंगत्व दिखाते हैं –

तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य ।। ८।।

निर्बीज निरालम्बन असंप्रज्ञात समाधि की धारणा ध्यान समाधि बहिरंग होता है। जिसलिए संयम संप्रज्ञात योग का जैसा साक्षात् सम्पादक, वैसा असंप्रज्ञात योग का नहीं, किन्तु सम्प्रज्ञात योग द्वारा ही होता है, बहिरंगत्व-योगाङ्गरूप में परम्परा से

सम्पादक होने पर अन्तरंगत्व-साक्षात् सम्पादक होने पर अंगत्व होता है ॥ ८॥

अब योगसिद्धि का व्याख्यान करने की इच्छा से संयम का विषय परिशुद्धि करने के लिए क्रमशः धर्म लक्षण अवस्थात्मक परिणामत्रय निरूपण करता हुआ धर्म का परिणाम दिखा रहे हैं –

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-
चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।। ९।।

व्युत्थान क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त ये तीन भूमि और सम्प्रज्ञात योग भी असम्प्रज्ञात योग की अपेक्षा से व्युत्थान रूप ही हैं। निरोधचित्त की पञ्चमी भूमिका अर्थात् चित्त के प्रकृष्ट सत्त्व का असत्ती रूप से परिणाम विशेष। व्युत्थान और निरोध से उत्पन्न जो दो संस्कार हैं, उसका यथाक्रम अभिभव और प्रादुर्भाव जब होता है, तब निरोधक्षण में चित्त का जो अन्वय होता है, उसको निरोध परिणाम कहा करते हैं। तनुभावरूप से कार्यकरण में असमर्थरूप अवस्थान को अभिभव कहते हैं। वर्तमान अवस्था में अभिव्यक्त रूप से आविर्भाव को प्रादुर्भाव कहते हैं। इसका भाव यह है – जब व्युत्थान संस्कारात्मक परिणाम तिरोभाव होता है, निरोध संस्कारात्मक परिणाम का आविर्भाव होता है, उस समय वह निरोध परिणाम पद से व्यवहृत होता है। यावत् काल पर्यन्त निरोधावस्था रहती है तावत् काल नियमत चित्तस्थैर्य रहता है ॥ ९॥

सर्वथा व्युत्थान संस्कार का अभिभव होने पर बलवान निरोध संस्कार से कैसे परिणाम होता है ? उसके उत्तर में कहते हैं –

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।। १०।।

निरोध संस्कार के बल से निरस्त समस्त व्युत्थान वाले चित्त उत्तर उत्तर क्षण में प्रशान्तवाहिता – व्युत्थानसंस्काररूप मलरहित निरोध परम्परामात्र वाहिता अर्थात् चित्त स्थिर शान्त और विशारद हो जाता है ॥ १०॥

चित्त सम्प्रज्ञात समाधि परिणाम अवस्थारूप लक्षण परिणाम दिखाते हैं –

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ।। ११।।

चित्तकी सर्वार्थता-क्षिप्त मूढ़ विक्षिप्तात्मक सब विषय ग्रहण करने की वृत्तिका क्षय, और एकाग्रता – एकमात्र ध्येय विषयक चिन्तन करने वाली वृत्तिका उदय, इन दोनों धर्मका क्षय और उदयरूप परिणामको समाधि परिणाम कहते हैं। अर्थात् चित्त ससमाधिक उत्पन्न होता है। उस एकाग्रतावस्थात्मक सम्प्रज्ञात समाधि चित्त को परिणाम कहा जाता है। संस्कारात्मक धर्म परिणामको निरोध परिणाम और लक्षण परिणामको समाधि परिणाम कहते हैं। निरोध परिणाम और समाधि परिणामका यही विशेषत्व है ॥११॥ एकाग्रता परिणाम का लक्षण बता रहे हैं —

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।। १२।।

समाहित चित्त का एक प्रत्ययवृत्ति विशेष शान्त अतीतध्वनि में प्रविष्ट, और दूसरा उदित वर्तमान अध्वान में स्फुरित है । एकरूपका अवलम्बनत्व की दृष्टि से दोनों समाहित चित्त होने पर उभयत्र सदृश प्रत्यय होने से चित्त की अन्वयित्वरूप से अवस्थान को एकाग्रता परिणाम कहा जाता है ।। १२।।

चितिशक्ति के बिना सब भावपदार्थ प्रतिक्षण परिणामी, सुतरां सबका अनन्त परिणाम होते हैं । फिर भी प्रत्यक् वस्तुधर्म के लक्षण से अवस्था द्वारा अवच्छिन्न होते हैं, सुतरां धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम से वस्तु परिणत होता हुआ व्यवहृत होता है । अतः त्रिविध परिणाम सर्वत्र समुपपन्न और भी –

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणाऽवस्थापरिणामा व्याख्याताः ।। १३।।

उपर्युक्त त्रिविध चित्त के परिणामसे स्थूल और सूक्ष्मभूतों में तथा बुद्धिकर्म लक्षणभेद से स्थित इन्द्रियों में होने वाले धर्म-लक्षणावस्था परिणाम व्याख्यान किया गया है । अवस्थित धर्मि का पूर्वधर्म निवृत्ति में धर्मान्तरापत्ति को परिणाम कहते हैं । जैसा मृत् लक्षण धर्मों का पिण्डरूप धर्म परित्याग से घटरूप धर्मान्तर स्वीकार धर्म परिणाम कहा जाता है, उसी घट का ही अनागत अध्व परित्याग करके वर्तमान अध्व स्वीकार, और उसको परित्याग करके अतीत अध्व परिग्रह-लक्षण परिणाम, वर्तमान लक्षणयुक्त धर्म में नयापन से पुरानापन आ जाना अवस्था परिणाम है । इससे निश्चय होता है, गुणंवृत्ति क्षणमात्र के लिए भी अपरिणाममान नहीं है ।। १३।। धर्मीका लक्षण बता रहे हैं –

शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।। १४।।

शान्त धर्मावच्छिन्न, उदितधर्मावच्छिन्न और अव्यपदेश्यधर्मावच्छिन्न धर्मी होता है। कार्य-जनन-सामर्थ्य कारणगतशक्ति को धर्म कहते हैं । वह तिरोभाव प्रादुर्भाव स्वभाव वाला होता है । जब आविर्भूत होकर कार्य को सम्पादन करके पुनः तिरोभाव हो जाता है । तब कार्य भी ध्वस्त-तिरोहित हो जाता है । उस समय तिरोभूता वह शक्ति– 'शान्ता' नाम से कही जाती है । जब शक्ति का आविर्भाव होता है तब कार्य भी तत्काल कारण में समुत्पन्न हो जाता है । उस समय वह प्राविर्भावस्वभाव वाली 'उदिता' कही जाती है। जब तक वह आविर्भाव नहीं होती तब तक कार्य भी उत्पन्न नहीं होता, अतः वह तिरोभाव स्वभाव वाली 'अव्यपदेश्या' कही जाती है और भी उस प्रकार कारणगत शक्ति में अनुपतनशील और तादृश शक्त्यधीन कार्य को ही धर्मीरूप से जानना चाहिए । उस समय जब शक्ति शान्ता, तब कार्य भी शक्त्यधीन होता हुआ शान्ता होता है । जबकि शक्ति उदिता, तब कार्य भी शक्त्यधीन होता हुआ – 'उदित' होता है, जबकि शक्ति

अव्यपदेश्या अनागत प्रादुर्भावा, तब कार्य भी उस शक्ति के अधीन अव्यपदेश्य अनागत प्रादुर्भाव होता है । यहाँ धर्मी पद से आविर्भाव, तिरोभाव, स्वभावधर्मी का अभिप्रेत है। उसी से सूत्र के लक्षण के साथ संगति लगती है – परिणाम प्रकरण में ऐसा ही वर्णित हुआ है । आत्मा तो धर्मी होता हुआ भी ऐसा धर्मी नहीं है । वह तो तिरोभाव प्रादुर्भावरहित, अत: वह यहाँ लक्ष्य नहीं है । जबकि परिणामी अपरिणामी धर्मी साधारण लक्षण विधेय तभी घट धर्मी कहलाता है ॥ १४॥ यदि कहें, एक ही धर्मी का अनेक परिणाम कैसे कहते हैं –

क्रमान्यत्वं परिणामन्यत्वे हेतुः ।। १५।।

क्रमान्यत्व–क्रमभेद, परिणामान्यत्व में – परिणाम भेद में हेतु-प्रयोजक होता है । जैसे मृत् चूर्ण से मृत् पिण्ड, उसके बाद दो कपाल, उससे घट; यह क्रमभेद है, इसी प्रकार सर्वत्र प्रकृतितत्त्व में कारण कार्यक्रम होता ही है । सुतरां स्वरूप परिणाम अथवा विरूप परिणाम अवश्यम्भावी । सब ही परिणाममान चित्तादि का कोई सुखादि धर्म प्रत्येक क्षण में ही उपलब्धि होती है । कोई तो धर्म-संस्कार-शक्ति प्रभृतियाँ अनुमान से गम्य होता है । उसमें सब प्रकार धर्म में एक ही चित्त भिन्नरूप से अन्वित होता है । सुतरां चित्त परिणामी यह सिद्ध हुआ । इससे सर्वत्र क्रमान्यत्व से परिणामान्यत्व समझ लेना चाहिए । उसमें धर्म परिणाम अन्यत्व में धर्म क्रमान्यत्व हेतु होता है । जो जिस धर्म का समानान्तर धर्म वह उस धर्म का क्रम, पिण्ड में चला जाता है; घट उत्पन्न होता– यह धर्म परिणाम क्रम है । इस प्रकार लक्षण-परिणामत्व में लक्षण क्रमान्यत्व हेतु होता है – जैसा अतीत काल और वर्तमान काल – यह लक्षण क्रम है । अतीत स्वभाव घट तिरोहित वर्तमान स्वभाव घट प्रादुर्भूत – यह लक्षण परिणाम क्रम है । इसी प्रकार अवस्था परिणाम अन्यत्व में अवस्था क्रमान्यत्व हेतु । जैसा उत्पत्ति प्रतियोगीघट और स्थिति प्रतियोगीघट ऐसा अवस्थाक्रम, उससे नूतन घट और पुरातन घट, ऐसा अवस्था परिणामक्रम, इस प्रकार सर्वत्र पदार्थों में जानना चाहिए । ऐसा क्रमसमूह धर्म-धर्मीभेद होता हुआ प्रतिलब्ध स्वरूपा धर्म भी धर्मी होता है – अन्य धर्मस्वरूप की अपेक्षा से। जबकि परमार्थ से धर्मी में भेद उपचार उसके द्वारा ही उसका कथन किया जाता है; उस समय धर्म एकत्वरूप से ही प्रत्यवभास होता है । चित्त के दो धर्म होते हैं – परिदृष्ट और अपरिदृष्ट । उसमें जो प्रत्ययात्मक प्रमाणादि से अनुभूयमान वह परिदृष्ट है, जो वस्तुमात्रात्मक संस्काररूपसे स्थिति स्वभावयुक्त कार्यरूप लिंग से अनुमान किया जाता है वह अपरिदृष्ट है । जैसा– निरोध-संस्कारशेष, धर्मधर्माधर्म कर्माशय, संस्कार-वासनारूप, परिणाम–असंविदित विक्रिया, जीवन–चित्त द्वारा प्राण की प्रेरणा, चेष्टा–अविदित क्रिया, शक्ति–क्रिया जननी, ये – सात दर्शन वर्जित चित्तधर्म हैं ।

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।
चेष्टाशक्तिश्च चित्तस्य धर्मादर्शनवर्जिता इति ।। १५।।

पादसमाप्तिपर्यन्त संयमसिद्धि सूचक सूत्रों के अवतरण कर रहे हैं । जिज्ञासित विषयबोध निमित्त संयम का विषय उपदेश कर रहे हैं । यहाँ वुभुत्सितार्थ प्रतिपत्ति कहने से जिसका जैसा विभूति कामना हो उसको वैसा-वैसा विषय में संयम करना चाहिए । परन्तु मुमुक्षु को तो पर वैराग्य निमित्त सत्त्व पुरुष अन्यतामात्र संयम करें ।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।। १६।।

इस धर्मी का यह धर्मपरिणाम, उसका पुनः यह लक्षणपरिणाम, लक्षण का भी नये पुराणादि अवस्थापरिणाम, जिस किसी विषय में अनुक्षण संयम करने पर उसका साक्षात्कार हो जाने पर अन्यान्य विषयों में भी धर्मादि परिणामों में संकल्पमात्र से अतीत अनागत का ज्ञान हो जाता है । संयम द्वारा परिणामत्रय साक्षात् करने के लिए सर्वतो विषय का क्रम से धारणा का प्रयोग करके ध्यान करें । उसके बाद चित्त समाहित हो जाने पर साक्षात्कार होता है । ऐसा अभ्यस्त हो जाने पर तत् तत् विषय का अतीत अनागत ज्ञान सम्पादित होता है ।। १६।। यह संयम का दूसरा विषय उपदेश करते हैं-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकर-
स्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ।। १७।।

जो वाचक शब्द, वही अर्थ, वही ज्ञान, इस प्रकार संकीर्णता, उसका प्रत्येक को विभाग करके संयम करने से सर्वभूतों का उच्चारित शब्दार्थ ज्ञान होता है । उसका तात्पर्य शब्द-श्रोत्र इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषय नियत क्रम वर्णात्मरूप नियत कार्य प्रतिपत्ति से अवच्छिन्न होता है – जैसा कि गौ इस प्रकार शब्द । अर्थ – पदजन्य प्रतिपत्ति का विषय सास्नादिमत्वरूप गौ रूप अर्थ । प्रत्यय-विषयाकार बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान-गौ रूप प्रत्यय । ये सब वस्तुतः भिन्न रूप होता है । उसमें शब्द – गुण पदार्थ वाचक, अर्थ – द्रव्य पदार्थवाच्य विषयविशेष, प्रत्यय – गुण पदार्थ विषयी, इनका परस्पर तादात्म्य असम्भव होने से विभिन्न होता है । इनका शब्द, अर्थ और ज्ञान का व्यवहार में परस्पर अध्यास होने से परस्पर में संकीर्णत्व होता है – जैसा कि किसी ने कहा – 'गौ ले आओ' इस प्रकार उक्ति को सुनकर श्रोता कोई गौ लक्षण अर्थ को गोत्वावच्छिन्न सास्नादिमान पिण्ड को – शब्द भी उसका वाचक और ज्ञान भी उसका ग्राहक, इनको अभेदरूप से निश्चय करता है न कि गौ शब्द वाचक, गौ रूप अर्थ वाच्य, और तद् ग्राहक ज्ञान विषयी – इस प्रकार भेद से जानता है । इनका परस्पर अध्यास प्रयुक्त पुरुष का भेदपूर्वक ग्रहण करना असम्भव होता है । परस्पर अध्यास कैसा ? जैसा – किसी ने यह अर्थ (विषय) क्या है ? यह शब्द क्या है ? यह ज्ञान कैसा है ऐसा पूछे जाने

पर सर्वत्र संकीर्ण ही उत्तर देता है – गौ रूप अर्थ, गौ रूप शब्द, गौ रूप ज्ञान इति। परस्पर अध्यास से उसके भेद को जानने में अशक्त पुरुष संकीर्ण एकरूप ही उत्तर देता है। सुतरां उसमें तीनों का एक तत्त्वरूप से अध्यवसाय ही संकर होता है। इनका शब्द-अर्थ-प्रत्ययों का प्रविभाग करना चाहिए – यह शब्दतत्त्व वाचक है, यह अर्थतत्त्व वाच्य है, और यह प्रत्ययतत्त्व ग्राहक है। उसमें प्रत्येक स्वरूप में संयम करने वाले योगी लोग सर्वभूत-प्राणीमात्र का जितना भी रुत-वाणी का विषय है – उसका ज्ञान होता है – कैसे? शब्द सुनकर – इस प्राणी ने–इस अभिप्राय से, इस प्रकार शब्द का उच्चारण किया। योगजधर्म अचिन्त्य शक्ति वाला होने से धर्मों का स्वसदृशफल सम्पादक और स्वाभाविक होता है। हम लोगों का भी शब्द-अर्थ-प्रत्यय का भेद साक्षात्कार होता है फिर भी वह संयम से अजन्य होने से सर्वभूत रुतज्ञान नहीं होता है। सर्वभूत रुतज्ञान तो संयम सिद्धि से ही होता हैं ॥ १७॥ दूसरी सिद्धि को बताते हैं –

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।। १८।।

चित्त की वासनारूप द्विविध संस्कार होते हैं, कोई तो स्मृतिमात्र उत्पादन फलरूप होते हैं, कोई तो जाति-आयु-भोगरूप विपाक का हेतु होता है – जैसे धर्माधर्मरूप। उन संस्कारों में जब संयम किया जाता है तब "मैंने इस विषय को इस प्रकार अनुभव किया, मैं ऐसे कर्म को इस प्रकार सम्पन्न किया", इस प्रकार पूर्ववृत्त का अनुसन्धान करते ही प्रबोधकके बिना ही उद्‌बुद्ध संस्कार द्वारा अतीत के सब कुछ जाना जाता है। उद्बुद्ध संस्कारों का क्रमसे साक्षात्कार करने पर पूर्व-पूर्व जन्मानुभूत जात्यादि भी प्रत्यक्षरूप देख पाता है। इस विषय में जैगीषव्य आटव्य संवाद बताते हैं – भगवान जैगीषका संस्कार साक्षात्कारसे दस महासर्गमें जन्म परिणामक्रम देखता हुआ विवेकज्ञान प्रादुर्भूत हुआ था। भगवान आनटय तनुधर ने उनको पूछा – दस महासर्ग में अनभिभूत बुद्धिसत्त्व द्वारा आपने अवश्यम्भावी नरक-तिर्यक् गर्भजन्य दुःखों को देखता हुआ देव-मनुष्य आदि शरीरों में पुनः पुनः उत्पन्न होता हुआ सुख-दुःखों का क्या अधिक उपलब्धि किया ? जैगीषव्य भगवान ने उत्तर दिया – दस महासर्ग में अवश्यम्भावी अनभिभूत बुद्धिसत्त्व द्वारा मैंने नरक-तिर्यक् योनिसे उत्पन्न दुःख को देखता हुआ देवता-मनुष्य आदि में पुनः पुनः उत्पन्न शरीरों से जो कुछ भी अनुभव किया, वे सब दुःखरूप ही अनुभव किया। आवट्य कहते हैं – हे आयुष्मन्! प्रधान अनुत्तम वशित्व और सन्तोष सुख भी आपने अनुभव किया, उसको भी क्यों दुःख के पक्ष में निक्षेप करते हैं ? भगवान जैगीषव्य ने उत्तर दिया – विषय सुख की अपेक्षा से सन्तोष सुख को अनुत्तम कहा है, कैवल्य सुख की अपेक्षा से दुःखरूप ही है, बुद्धिसत्त्व का यह धर्म त्रिगुणात्मक प्रत्यय भी हेयपक्ष में न्यस्त, तृष्णातन्तु दुःखरूप ही है, "तृष्णा दुःख-सन्तापयुक्त" प्रसन्न अवाध सर्वानुकूल

सुख इसको ही कहा जाता है ॥ १८॥ सिद्ध्यन्तर का वर्णन करते हैं –

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ।। १९।।

रागादि मती स्वकीय चित्तवृत्ति का संयम करने पर आश्रय आदि रूप अशेष-विशेष का साक्षात्कार करने पर उससे पर-भिन्न चिन्तान्तर का भी अशेष-विशेष ज्ञान संकल्पमात्र से ही हो जाता है ॥ १९॥ चित्त ज्ञान का विशेष कहते हैं –

न च तत्सालम्बनं तस्याऽविषयीभूतत्वात् ।। २०।।

दूसरे का चित्त योगी द्वारा स्वकीय आलम्बन के साथ जान नहीं सकते, परचित्त आलम्बन योगी का अगृहीत होता है। योगी के चित्त से तो दूसरे का चित्तमात्र जाना जाता है, न कि इसका चित्त नील विषय का या पीत विषय का; जो कि गृहीत नहीं है। वहाँ संयम करना सम्भव नहीं, परचित्त का जो विषय उसका ज्ञान नहीं होता। सुतरां योगी के चित्त द्वारा परचित्त का निरालम्बन ही गृहीत होता है। किन्तु जब यह किससे आलम्बित इस प्रकार प्रणिधान करता है तब योगी लोग परचित्त का आलम्बनीभूत विषय में भी संयम करके उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, यह पृथक् संयम के बिना नहीं होता। परचित्त धर्म को तो परचित्त मात्र संयम से ही जानते हैं। संस्कार संयम तो सानुबन्ध संस्कार का विषय, यह तो परचित्त मात्र विषय – सुतरां यह दृष्टान्त युक्त नहीं है ॥ २०॥ सिद्ध्यन्तर को कहते हैं—

कायरूपसंयमात् तदग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षु-
प्रकाशासम्प्रयोगेऽइन्तर्द्धानम् ।। २१।।

स्वशरीर का रूप में संयम करने से अशेष-विशेष कारणादि के साक्षात्कार हो जाने पर संकल्पमात्र से स्वकीयरूप की दृश्यता शक्ति को परचक्षु संयोग योग्यता प्रतिबन्ध कर देता है, उससे परचक्षु प्रकाश द्वारा उसकी किरणों से असंयोग होने पर योगी का अन्तर्धान हो जाता है। अर्थात् दिन में ही अन्ध के जैसा उसको कोई नहीं देखता है। इससे रूप का अन्तर्धान द्वारा शास्त्रान्तर सिद्ध शब्दादि का अन्तर्धान भी उपलक्षित जानना चाहिए ॥ २१॥ विभुत्यन्तर दिखा रहे हैं –

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।। २२।।

पूर्वकृत जो आयु का विपाक-तत्कर्म, वह दो प्रकार, सोपक्रम और निरुपक्रम। उपक्रम-व्यापार, उसके साथ जो वह सोपक्रम-तीव्र वेग से फल देने वाला जैसा कलिकाल के मनुष्य में वाल्य यौवन वार्द्धक्यादि अवस्थाओं का आयुष्कर कर्म झटिति आरम्भ होता है। तीव्र व्यापार रहित जो निरुपक्रम मन्द वेग से फल देने वाले जैसा सत्ययुगादि कालीन मनुष्य वाल्य यौवन वार्द्धक्यादि अवस्थाओं का आयुष्कर कर्म विलम्ब से आरम्भक होता है और भी – सोपक्रम कर्म का संयम से साक्षात्कार होने पर

अपना शीघ्र मरण का ज्ञान हो जाता है । निरुपक्रम कर्म का संयम से साक्षात्कार होने पर मरण का ज्ञान विलम्ब से होता है । अपरान्त प्रयाण – शरीर के साथ आत्मा का वियोग, तद्विषयक ज्ञान – अमुककाल में अमुक देश में मेरा शरीर वियोग हो जायेगा ऐसा निःसंशय होकर जानता है । अरिष्ट – मरण चिह्न, वह आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक है । उसमें आध्यात्मिक – शरीरान्तर्भावी-पिहितकर्णकोष्ठवायु का घोष नहीं सुनते हैं । आधिभौतिक-अकस्माद् यम पुरुष का दर्शनादि । आधिदैविक–दिन में तारागणों का या स्वर्ग का दर्शन होता है । यद्यपि अयोगियों को भी अरिष्ट से प्रायः उस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि वह सामान्य रूप संशय होता है, और योगियों का तो नियत देशकालरूप से प्रत्यक्ष जैसा अव्यभिचारी होता है ॥ २२॥ विभुत्यन्तर दिखाते हैं –

मैत्र्यादिषु बलानि ।। २३।।

मैत्र्यादि में संयम करने से मैत्र्यादि बल प्रकर्ष लाभ करते हैं । उसमें मैत्रीभावना से जो बल प्राप्त होता है, उससे जीवलोक को सुखी करते हैं, उससे सर्वहित होता है। इस प्रकार करुणा बल से प्राणियों को दुख से समुद्धार करते हैं और मुदिता बल से जीव लोगों का माध्यस्थ प्राप्त होता है । भावना से समाधि कहने से, यद्यपि धारणा ध्यान समाधि तीनों मिलाकर संयम होता है फिर भी समाधि के बाद कार्योत्पन्न होने के नाते समाधि का प्राधान्य है । पापशीलों में उपेक्षा की भावना नहीं । उपेक्षा में अपेक्षित संयम नहीं होता, संयम न करने से बल भी प्राप्त नहीं होता है ॥ २३॥ सिद्ध्यन्तर कहते हैं —

बलेषु हस्तिबलादीनि ।। २४।।

हस्ति आदि बलों में संयम करने से हस्ति आदि बल का आविर्भाव होता है । इसका तात्पर्य—जो यागी हस्ति बल में, वायुवेग में या सिंह वीर्य में तन्मय होकर संयम करता है, उसमें तत् तत् सामर्थ्य युक्त सत्त्व का प्रादुर्भाव होता है ॥ २४॥
सिद्ध्यन्तर कहते हैं—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।। २५।।

व्यवहित–आवृत, विप्रकृष्ट–दरवर्त्ती । ज्योतिष्मती बुद्धि पुरुष का अन्यतर साक्षात्काररूपिणी मन की प्रवृत्ति उसका सत्त्व प्रकाशात्मक आलोक में संयम करने पर योगी मनोग्राह्य या सूक्ष्मादि साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ २५॥ विभूत्यन्तर दिखाते हैं -

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।। २६।।

भगवान सूर्यदेव में संयम करने से पुराणोक्त चतुर्दश भुवनों में स्थित स्थावर जङ्गमात्मक यावत् वस्तु का ज्ञान होता है क्योंकि सूर्य स्थावर जंगमात्मक सारी सृष्टि की

आत्मा है। इसका विस्तृत व्याख्यान भाष्यकार अपना भाष्य में दिये हैं—इच्छुक व्यक्ति वही देखें ॥ २६॥ सिद्ध्यन्तर कहते हैं—

चन्द्रेताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७॥

चन्द्र में कृत संयम से ताराओंकी ज्योतिका जो व्यूह-विशिष्ट सन्निवेश उसका ज्ञान प्राप्त होता है। उस विषय को स्पष्ट करते हैं–ये तारे, ये ग्रह समूह, इतना कालमें अमुक राशिमें या अमुक नक्षत्र में जावेंगे, इस प्रकार सब तारों के बारेमें जान लेते हैं ॥ २७॥ सिद्ध्यन्तर कहते हैं—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८॥ .

ज्योतिओं के प्रधान निश्चल ध्रुव में संयम करने से ताराओं की जो नियत काल और नियत देशमें गति है, उसका ज्ञान हो जाता है ॥ २८॥ विभूत्यन्तर दिखाते हैं-

निभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९॥

षोडशार नाभिचक्र में सर्व नाड़ियों की मूल ग्रन्थी है, उसमें संयम करके योगी कायव्यूह सन्निवेश—वातपित्तश्लेष्मारूप तीन धातु तथा त्वक्लोहित मांस स्नायु अस्थिमज्जा शुक्रात्मक सात धातुओं को जान जाते हैं ॥ २९॥ विभूत्यन्तर बताते हैं—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३०॥

जिह्वा के नीचे तन्तु, तन्तु के नीचे कण्ठ, कण्ठ के नीचे कूप-गति, उस गति में प्राण का संयोग होने पर क्षुत् पिपासा होती है उस कूप में संयम करके योगी वहाँ प्राण का संयोग निरोध कर लेता है, उससे क्षुत् पिपासा की निवृत्ति हो जाती है। जब तक संयम रहेगा तब तक क्षुत् पिपासा नहीं रहेगी ॥ ३०॥ सिद्ध्यन्तर का वर्णन करते हैं-

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१॥

कण्ठकूपके नीचे वक्षस्थलमें कूर्माकार नाड़ी संस्थान है, उसमें संयम करके योगी स्थैर्य–चित्तादि अन्तःकरणकी स्थिरता लाभ करते हैं, कायका भी स्थैर्य हो जाता है ॥ ३०॥ विभूत्यन्तर दिखाते हैं—

मुर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२॥

शिर कपाल में ब्रह्मरन्ध्राख्य जो छिद्र है उसमें जो भास्वर प्रकाशरूप ज्योति है, उस ज्योति में संयम करने पर योगी को पृथिवी अन्तरालवर्ति सिद्ध दिव्य पुरुषों का दर्शन होता है, ब्रह्मरन्ध्र में जो प्रकाश उसका ब्रह्मप्रकाश के साथ ऐक्य होने से उस प्रकाश से सब सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है ॥ ३२॥ सिद्ध्यन्तर बता रहे हैं —

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३॥

स्व प्रतिभात्य अनौपदेशिक मनोमात्रजन्य अविसंवादक द्रागुत्पद्यमान ज्ञान, वह

संसारतारण के उपायरूप होने से तारज्ञान कहते हैं, वह सार्वज्ञ्य का पूर्वलिंग होती है, जैसा सूर्योदय के पूर्व लिंग प्रभा होती है, उस प्रातिभ में संयम करके योगी प्रातिभ तारक ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, उस ज्ञान से वे सर्वज्ञ हो जाते हैं ।। ३३।।
सिद्ध्यन्तर कह रहे हैं—

हृदये चित्तसम्बित् ।। ३४।।

हृदय पुण्डरीक जो कि जीवात्मा का रहने का स्थान है; वहाँ अन्तःकरण में चित्त सत्त्व आत्मा का सिंहासन माना जाता है, उस सत्त्व में संयम करने पर योगी का स्व और पर चित्त का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । स्वचित्त गत सब वासना परचित्तगत रागादि को सम्यग् जान जाता है ।। ३४।। सिद्ध्यन्तर दिखाते हैं—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ताऽसंकीर्णयोः प्रत्ययाऽविशेषद्
भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ।। ३५।।

प्रकाश सुख लाघवात्मक प्रकृति का परिणाम शुद्धा बुद्धि ही सत्त्व है; पुरुष भोक्ता अधिष्ठाता चेतन है, वे दोनों अत्यन्त असंकीर्ण, क्योंकि भोग्य-भोक्तृरूप होने से, जड़-चेतनरूप होने से जो कि अत्यन्त भिन्न प्रत्यय का अविशेष । प्रत्यय का अर्थ–सत्त्व और पुरुष का अन्यता ज्ञान अर्थात् भेद ज्ञान, उसका अविशेष अर्थात् दोनों का अभेद ज्ञान से भोग-अन्यान्य धर्म का अन्यान्य संक्रमण से बुद्धिगत कर्तृत्व सुख-दुःखादि साक्षात्कार, वह भोग भी बुद्धि का स्वार्थ न होने से पुरुषार्थ मात्र परार्थ, बुद्धिसत्त्व का परार्थ होने से भोग भी परार्थ ही है और भी तादृशबुद्धि सत्त्वात्मक परार्थ होने से उससे भिन्न जो स्वार्थ–स्वतन्त्र सत्त्वामात्र अपराधीन प्रकाशस्वरूप पुरुष, उस स्वयं प्रकाश स्वस्वरूप में संयम करने से योगी को स्वात्मस्वरूप का ज्ञान होता है । यहाँ यदि प्रज्ञा पुरुष विषयक हो, तो पुरुष के प्रज्ञा का प्रज्ञेयत्व प्राप्त होता रहेगा । सुतरां पुरुष स्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है, पुरुष ही स्वयं स्वात्मालम्बन उस बुद्धिसत्त्व को प्रकाश करता है–देखता है ।। इसीलिए कहा– 'विज्ञाता को फिर किससे जाना जायेगा' श्रुति ।। ३५।। और भी दिखाते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।। ३६।।

ततः पुरुषसाक्षात्कार से मन आदि में प्रातिभादि संज्ञिका सिद्धियाँ विशेषरूप से होती है, उस सामर्थ्य से मन आदि में व्यवहित आदि विषयों का ज्ञान होता है । दिव्य-श्रवण से, दिव्य स्पर्शाधिगम से, दिव्य रूपसंविद से, दिव्य रससंविद से, दिव्य गन्धविज्ञान से इससे योगज धर्मानुगृहीत मन श्रोत्र आदि का यथासंख्य प्रातिभज्ञान से दिव्य शब्द आदि का अपरोक्ष हेतु भाव नित्य उत्पन्न होता है ।। ३६।।



इस प्रातिभ आदि का कदाचित् विघ्नत्व, कदाचित् विभूतित्व दिखाते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।। ३७।।

वे प्रातिभ आदि असंप्रज्ञात समाधि के निमित्त विघ्नरूप अन्तराय होते हैं। जिससे प्रातिभ आदि में हर्ष विष्मय आदि द्वारा समाधि शिथिल हो जाता है। फिर भी प्रातिभ आदि उत्थान कालमें चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र अवस्था होती है, तब विशिष्ट फलदायक होने से सिद्धियाँ कही जाती है, इसलिए उत्थान काल में प्रातिभ आदि उपादेय है ।। ३७।।

इस प्रकार ज्ञानरूप ऐश्वर्य को पुरुष दर्शनान्त संयम फल कहकर क्रियारूप ऐश्वर्य को संयम का फल कथन कर रहे हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च
चित्तस्य परशरीरे प्रवेशः ।। ३८।।

शरीर में समवस्थित व्यापक आत्मा और चित्त का धर्माधर्माख्य नियत कर्मवशात् भोक्तृभोग्यभाव से जो संवेदन, वही शरीरावच्छेद से आत्मा के साथ चित्त का बन्धन है। बन्धन का कारण–धर्माधर्माख्य, उसमें संयम द्वारा जब शैथिल्य–तनुत्व उत्पन्न होता है अर्थात् कर्म निमित्तक प्रतिबन्धक रूप संयोग विशेष का क्षय हो जाने से, उसके बाद चित्त ही बन्धनहीन होकर स्वतन्त्ररूप से सर्वत्र गमनागमन समर्थ होता है। इस प्रकार होने पर चित्त के हृदय प्रदेश से इन्द्रियरूप द्वार के द्वारा विषयाभिमुख प्रचार होता है। फिर भी प्रचार विषयक इस प्रकार – "यह चित्तवहा नामक नाड़ी, इससे इस प्रकार से चित्त शरीर में प्रवेश और निर्गम करता है, यह अन्यान्य प्राणवहा आदि नाड़िओं से भिन्ना, स्वतन्त्र होकर चित्त का वहन करती है।" इत्यादि आकार का संवेंदन–विज्ञान सम्यग्रूप से उद्भव होता है। उस समय अपना चित्तसंचार में योगी संयम द्वारा पर शरीर में स्वचित्तसंचार द्वारा परकीय मृत शरीर अथवा जीवित शरीर में प्रवेश करता है। योगी चित्तानुसारिणी तत् तदिन्द्रियां भी पर शरीर में चित्त का अनुप्रवेश करते हैं। जैसा मधुकर राजा उड़ जाने पर अन्य मक्षिकायें उड़ जाती, प्रवेश करने पर प्रवेश कर जाता। उस समय पर शरीर से स्वशरीर जैसा व्यवहार करते हैं और सर्व प्रकार भोग का भी भोग करते हैं ।। ३८।। सिद्ध्यन्तर बताते हैं–

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।। ३९।।

सब इन्द्रियों की जीवन वृत्ति को प्राण कहते हैं। वह क्रियाभेदसे प्राण अपान समान व्यान उदान नाम से व्यपदेश होते हैं। उसमें मुख नासिका द्वारा प्रणयन करने से प्राण, इसका मुख नासिका से आरम्भ करके हृदय पर्यन्त वृत्ति है, अंशित पीत

आहार का परिणामरूप रसों को नाड़ियों में तत् तत् स्थान में सम्यक् नयन से समान, इसकी हृदय से नाभि पर्यन्त वृत्ति है, मूत्रपुरीष-गर्भादिका अपसरण हेतु अपान–नाभि से पदतल पर्यन्त वृत्ति है, ऊर्ध्वगतिप्रद और रसादि का ऊर्ध्वनयन से उदान–मुख नासिका से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त वृत्ति है, सर्व देहव्यापी वृत्ति वाला बलवत् वृत्ति हेतु–व्यान और भी पाँच प्रकार के प्राण वायु माने जाते हैं–उद्गार में नाग, उन्मीलन में–कूर्म, क्षुत्कर में–कृकर, विजृम्भण में–देवदत्त, सर्वव्यापी–मृतशरीर में भी–धनञ्जय । सबसे प्रधान प्राण, प्राण का उत्क्रमण से सब का उत्क्रमण होता है । उसमें उदान का संयम से जय होने पर जलपङ्ककण्टकादि के उपर सञ्चरण करता हुआ भी उससे असंग रहता है । उससे जल के उपर विपुल पङ्क में या तीक्ष्ण कण्टक के उपर सञ्चरण करने पर भी तुलपिण्ड जैसा लघु होने से तद्वारा प्रभावित नहीं होते, जलादि में डुब जाने पर भी अपने आप ऊपर आ जाते हैं । तथा प्रयाण काल में अर्चिरादि मार्ग में गमन की अभिलाषा हो तो अपनी इच्छानुसार उत्क्रान्ति होती है, इसलिए योगी गगनगामी होते हैं ।। ३९।।
विभूत्यन्तर दिखाते हैं—

समानजयात्प्रज्वलनम् ।। ४०।।

समनयनकारिणी प्राणशक्ति जो कि अशितपीत आहार्य वस्तुओं को शरीररूप में परिणत करता है, संयम से उसकी जय होने पर तेज की छटा से देदीप्यमान होकर योगी प्रज्ज्वलित जैसा लक्षित होते हैं । अथवा यथेष्ट अग्नि का उत्तेजन करके सती की तरह स्वशरीर को दहन कर डालते हैं ।। ४०।। सिद्ध्यन्तर दिखाते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ।। ४१।।

शब्दतन्मात्रा और श्रोत्र दोनों अहंकार से उत्पन्न हैं । शब्दतन्मात्रा से शब्दगुण वाला आकाश का उद्भव होता है । यह आकाश कर्णशष्कुली विवररूप कर्णेन्द्रिय गोलक उत्पन्न करता है । उसमें कर्णेन्द्रिय सुप्रतिष्ठित होता है । अयप्रतिभ अयस्कान्तमणि के जैसा वक्तृवक्ता समुत्पन्न वक्तास्थ शब्द से अदृष्ट स्ववृत्ति परम्परा द्वारा वक्तृवक्ता से निकले हुए शब्दों का विचार करते हैं । आहंकारिक श्रोत्र का भी भूताधिष्ठान का ही भूतगुण विचार होता है और भी श्रोत्र एवं शब्द का आश्रय आकाश ही है । उस श्रोत्र आकाश का आश्रयात्मक संयोगसंसर्ग संयम करने पर योयी दिव्यश्रोत्र वाला बन जाता है । दिव्यत्व के अर्थतन्मात्रादि सूक्ष्मगोचर संयम नैरपक्ष से स्वभाव से ही तन्मात्रादिरूप सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्ट अनागत शब्दादि ग्राहक हो जाता है । "सम्बन्ध सत्त्वे सम्बन्धी सत्त्व" इस नियम के अनुसार – जिस योगी आश्रयाख्य सम्बन्ध करके संयम द्वारा साक्षात्कार किया, उस योगी का शब्द-तत्त्वात्मक सम्बन्धी आकाशतत्त्वात्मक सम्बन्धी श्रोत्रतत्त्वात्मक सम्बन्धी भी सुतरां साक्षात्कृत होता है । उसमें आकाश एकरूप होने से

उसका सम्पूर्णरूप से साक्षात्कृत का सम्बन्धियाँ व्यवहित विप्रकृष्ट और अनागत सम्पूर्ण शब्दसमूह भी प्रत्यक्ष होता है ॥ ४१॥ आकाशगामिनी सिद्धि को दिखाते हैं—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतुलसमापत्तश्चाकाशगमनम् ।। ४२।।

काय = पञ्चभौतिक शरीर, उसका आकाश के साथ व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध है। जिस स्थल में शरीर रहता है वहाँ सर्वत्र देशकाल के अवछेद से शरीर को व्याप्त कर आकाश ही है। अवकाशदातृ गगन के विना शरीर की स्थिति असम्भव। उसमें व्याप्यव्यापक भाव संसर्ग में संयम करके योगी उस संसर्ग का साक्षात्कार करके स्वशरीर का गुरुत्व संकोच कर लेता है। उसके बाद लघु अर्कतुलादि में संयम करके योगी स्वशरीर की लघुता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार होने पर प्रथम यथारुचि परमाणु की तरह लघुशरीर पृथिवी में जैसा जल में भी संचरण करके क्रम से ऊर्णनाभितन्तु जाल के ऊपर संचरण करता हुआ सूर्यरश्मी में भी विहार करने लग जाता है। इस प्रकार यथेच्छ आकाश में भी गमन करने लग जाता है ॥४२॥ महाविदेहा सिद्धि को बताते हैं–

वहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।।४३।।

शरीरान्तस्थ मन ही वहिर्देशस्थ विषय को संकल्प करता है। वहाँ जो संकल्पात्मिका वृत्ति वह वहिर्देशवर्ति विषय को प्राप्त करके विषयाकार को प्राप्त हो जाती है। अतः मन तो हुआ शरीरान्तस्थ और उसकी वृत्ति हुयी वहिर्विषयस्था, वहाँ जो शरीरान्तस्था मन की संकल्पात्मिका वृत्ति देह को छोड़कर अन्यत्र विषय में संक्रान्ता होती है; उस वृत्ति को विदेहा नामवाली धारणा कहा गया है। उसको कल्पिता भी कही जाती है। उसके वाद योगी जब योगबल से अपना मनको शरीर से निकालकर वहिर्विषय में स्थापन करते हैं। उस समय वहिर्देशस्थ मन वाह्यविषयको वाह्यवृत्ति से संकल्प करता है। उस संकल्पात्मिका वृत्ति का नाम – "महाविदेहा" है। वही फिर विषय देश में जाकर मन का साक्षात्प्राप्त होने पर अकल्पिता नाम से कही जाती है। इस महाविदेहा नामवाली वृत्ति से योगी परशरीर में प्रवेश करते हैं। उस महाविदेहाख्यवृत्ति में संयम करके योगी रजतममूलक क्लेशकर्म, जाति आयु भोग समूह जो प्रकाशात्मक बुद्धि सत्त्व का आवरणरूप है, उसका क्षय करता है। क्लेशादिके क्षय से निराकरण योगीचित्त यथेष्ट परशरीरादि में विहार करते हुए वहाँ के सब वृत्तान्त जान जाते हैं ॥४३॥

इस प्रकार पूर्वान्त विषय समूह, परान्त विषय समूह, मध्य में उत्पन्न सिद्धियाँ प्रतिपादन के बाद भुवनज्ञानादिरूप वाह्य, कायव्यूहादिरूप अभ्यन्तरा, परिकर्म निष्पन्न भूतादि भी, मैत्रेय आदि में बलरूप समाधि उपयोगी अन्तःकरण और वहिःकरणरूप इन्द्रिय से उत्पन्न, प्राणादिवायु से उत्पन्न सिद्धि द्वारा चित्त की दृढ़ता होने पर समाधि में समाश्वास उत्पत्ति कहकर अब स्वदर्शनोपयोगी सवीज निर्वीज समाधि सिद्धि के लिए

विविध उपाय प्रदर्शन निमित्त कहते हैं –.

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।।४४।।

पृथिव्यादि पाँच भूतों के जो पाँच अवस्था में विशेष धर्म – स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व आदि धर्म समूह चेतनभिन्न प्रत्येक पदार्थ में व्यवस्थित रहते हैं, उससे संयम करने से तत् तत् धर्म का स्ववशवर्तिता उत्पन्न होती है, उससे उसका आश्रय रूप पृथिव्यादि पंचभूत का भी स्ववशवर्तित्व सम्पन्न होता है । जैसा कि प्रथम – भूतों का परिदृश्यमान विशिष्ट आकारवान् स्थूलरूप है, पञ्चभूतों का कार्यरूप धर्म को **स्थूल** कहा जाता है । तत्र तत्र संयम करने पर स्थूलधर्म की जय होती है । द्वितीय – **स्वरूप** अपनारूप अर्थात् धर्म, पृथिवी में पृथिवीत्व जल में जलत्व इत्यादि। उस रूप में संयम करने से तत् तत् रूपावच्छिन्न तत् तत् तत्त्व स्ववश में हो जाता है। तृतीय **सूक्ष्म**– सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रायें जो कि स्थूल भूतों का करणी-भूत हैं– उसमें संयम करने पर उनके ऊपर वशवर्तिता हो जाती है । चतुर्थ– **अन्वय** प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थ सत्त्वरज तम संज्ञक कार्य स्वभाव अन्वयी गुणत्रय का अनुगमनशील भूतों में अन्वयीरूप से उपलभ्यमान होता है। अन्वय पदवाच्य विषय में संयम करने पर त्रिगुणात्मिका प्रकृति वशीभूता होती है । पञ्चम अर्थवत्त्व – गुणों में भोगापवर्ग सम्पादन करने वाली शक्ति को अर्थ कहा है। अर्थवत्त्व अर्थात् शक्तिमत्त्व, उस शक्ति विशेष में संयम करके योगी उस के ऊपर जय लाभ करते हैं । उसमें प्रथम स्थूलरूप में संयम करके, उसके बाद स्वरूप में, उसके बाद सूक्ष्म में, उसके बाद अन्वय में, उसके बाद अर्थवत्त्व में, इस प्रकार क्रम से संयम करके योगी पञ्चविध स्वभाव के ऊपर जय लाभ करते हैं । उसके बाद फिर उनसे बन्धन की प्राप्ति नहीं होती । तब योगिओं को भूतादि जननस्थितिभंग विधान सामर्थ्य प्राप्त होता है । उससे उनकी इच्छानुसार भूतादि तद्रूप प्राप्त हो जाता है ।।४४।। भूतजय का फल को दिखाते हैं –

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।४५।।

पञ्चविधसंयम द्वारा भूतादि जय के अनन्तर स्थूल संयम की जय से अणिमादि चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । अणिमा – महान् भी अणु हो जाता है, लघिमा – गुरु भी लघु होकर, इषीकातुलका जैसा आकाश में विहार कर सकते हैं । महिमा – अल्प भी नागनगगगन परिमाण हो सकते, प्राप्ति – सव भाव पदार्थ सन्निहित हो जाते हैं, जैसा भूमि पर रहकर ही अँगुली द्वारा चन्द्र को स्पर्श कर सकते हैं प्राकाम्यनाम की सिद्धि हो जाती है, प्राकाम्य – इच्छा का अनभिघात जिससे भूमि में भी जल जैसा निमज्जन कर सकते हैं । उससे योगी कभी भी पञ्चविध मूर्ति द्वारा अभिहत होते हैं । इस

प्रकार सूक्ष्म विषयसंयम की जय से वशित्व नामक सिद्धि हो जाते हैं। अर्थात् स्थूल सूक्ष्म भूतों के ऊपर अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। इसका तात्पर्य – भूतवर्ग पृथिवी आदि, भौतिक-गौघटादि, भूतकारण – तन्मात्रायें, उसमें वशी स्वतन्त्र हो जाते हैं। इस प्रकार अन्वयविषय का संयम से ईशित्वनामी सिद्धि हो जाती है अर्थात् सारे भूतवर्ग अनुगामी हो जाने से उनकी कही हुई बातें अतिक्रम नहीं करती। अर्थवत्त्वसंयम से कामावसायित्त्व नाम्नी सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। इससे सत्यसंकल्पता विजितगुण शक्ति योगी कामावसाय अर्थात् जिस विषय में उनकी इच्छा होती उस विषय में उनका व्यवसाय हो जाता अर्थात् उस विषय का स्वीकार करके अभिलाष की समाप्ति पर्यन्त ले जाते हैं। उनके संकल्प से विषयी अमृतकार्य करते हैं। इस प्रकार योगी का भूत जय से अणिमादि सिद्धियाँ समाधि के उपयोगी होकर उनके लिए उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार वक्ष्यमाण काय सम्पत् भी उत्पन्न होते हैं, उनके काय का धर्म रूपादि अनभिघात होता है अर्थात् किसी से भी नाश नहीं होता। पृथिवी शीला आदि में प्रवेश, जल में प्रवेश से भी आर्द्रता नहीं आती, अग्नि दहन नहीं करती, वायु शोषण नहीं करती और आकाश में भी अदृश्य रहकर सुस्थिर हो जा सकते ॥४५॥ कायसम्पत् दिखाते हैं–

रूपलावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४६॥

शरीर का रूप – दर्शनीयत्व रमणीयत्व गौरांगत्वादि, लावण्य मुख नेत्रादि में मनोहरण शक्ति–शान्ति गाम्भीर्यादि, बल-तेज-ओज-वीर्य, वज्र संहननत्व–वज्र के जैसे संहनन–प्रहार जिसका या वज्र के जैसे निविड़ दृढ़ संघात जिसका ऐसा हो जाता है ॥४६॥ भूतजयी योगी के इन्द्रिय जय का उपाय बता रहे हैं –

ग्रहणस्वरूपाऽस्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

ग्रहण– इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति, स्वरूप – स्वका रूप–धर्म, जैसे कि श्रोत्र में श्रोत्रत्वादि, उसमें संयम करने से तत् तत् रूपावच्छिन्न तत् तत् श्रोत्रादितत्त्व स्ववश में हो जाता है, अस्मिता अहंकार, इन्द्रियों का कारणीभूत सूक्ष्म, उसमें संयम करने से अहंकार के ऊपर जय होती है। अन्वय – सत्त्वरजतमसंज्ञक गुणत्रय प्रकाश प्रवृत्ति नियमार्थकार्यस्वभाव का अनुगमनशीला इन्द्रियों में उपलभ्यमान होती है, उनकी इन्द्रियाँ साहंकार परिणामिनी होती है। उसे त्रिगुण में संयम करने पर त्रिगुणजयी होते हैं। अर्थवत्त्व–गुणों में भोगापवर्ग सम्पादनकारी शक्ति अर्थ, उस शक्ति में संयम करने पर शक्ति के ऊपर विजय होती है। इस प्रकार से पञ्चभाव पर विजय से इन्द्रिय की जय होती है ॥ ४७॥ इन्द्रिय जय का फल कह रहे हैं –

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८॥

ततो–पञ्चविध संयम द्वारा इन्द्रिय जय के अनन्तर, मनोजवित्व शरीर का मन की

तरह शीघ्रतर वेग लाभ या गतिविशेष उत्पन्न होता है, विकरण भाव–इन्द्रियों की विकीर्णता–व्यापकता स्वभाव हो जाना अर्थात् शरीर निरपेक्ष अतएव वहिर्देशस्थ देशकालावच्छिन्नवाहि विषय में जहाँ कहीं वृत्ति की इच्छा करते हैं उसमें वृत्ति लाभ हो जाता है। प्रधान जय–सव प्रकृति विकार स्ववश में हो जाता है। जितेन्द्रिय को ये तीनों सिद्धियाँ हो जाती हैं। इनकी मधुप्रतीक संज्ञा भी होती है। जैसे कि मधु के एक अंश का स्वाद लिया जाता है इसी प्रकार ये सिद्धियाँ प्रत्येक को स्वाद लेते हैं–इसलिए मधुप्रतीका कहते हैं ॥ ४९॥ इन्द्रिय जय को कहकर अन्तःकरण की जय बता रहे हैं–

सत्त्वपुरुषाऽन्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाऽधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९॥

रजो तमो हीन स्वच्छ स्थिति प्रवाह उत्पन्न होने पर वशीकार वैराग्य से विषय प्रवृत्तिहीन चित्त विवेकख्यातिमात्र प्रतिष्ठ होता है, उससे सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वोपादानभूता ग्रहण ग्राह्यादिरूपा सत्त्वादि गुणसमूह क्षेत्रज्ञ स्वामी के प्रति सर्वविधग्रहण शक्तिरूप से उसका ग्राह्यरूप से उपस्थित हो जाते हैं। उस समय योगी सर्वभूतस्थ आत्मा को देखता है–यही सर्वज्ञातृत्व। गुणों का सर्वात्मरूप शन्तोदिता व्यपदेश्य धर्मरूप से युगपत् उपस्थित विवेकज्ञान को योग प्रसिद्ध विशोका नाम्नी सिद्धि कही जाती है। उसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ बनकर क्षीण क्लेशबन्धन होता हुआ विहार करता है ॥४९॥
विवेक का अवान्तर सिद्धि को कहकर मुख्य सिद्धि को कहते हैं –

तद्वैराग्यादपि दोषवीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५०॥

इस प्रकार विशोका सिद्धि के बाद जब वैराग्य उत्पन्न होता है अर्थात् विवेकज सार्वज्ञ और सर्वाधिष्ठातृत्व से भी वैराग्य उत्पन्न होने पर योगी का इस प्रकार विवेक का भी हेयताख्याति होने पर विद्यारूप विवेकज्ञान के प्रतिष्ठा से अविद्यादिक्लेश और तन्मूलक कर्म का दग्धवीजभावत्व का क्षय–निर्मूलन से कैवल्य–विवेकख्याति उसमें भी पर वैराग्य द्वारा हेयज्ञान उत्पन्न होने पर आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अर्थात् गुणों का परिसमाप्ति से स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अर्थात् दग्धबीजकल्प क्लेश समूह चित्त के साथ प्रलीन हो जाने पर और पुनः तापत्रय को भोग नहीं करते अर्थात् तापत्रयात्मक चित्तवृत्ति का जो गृहीतृ बुद्धि उसका प्रतिसंवेदी नहीं होती। यही शाश्वती स्वरूप प्रतिष्ठा है ॥ ५०॥

सम्प्रति कैवल्य साधन में प्रवृत्त योगी के प्रत्युह की सम्भावना होने पर उसके निराकरण का मार्ग उपदेश कर रहे हैं –

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१॥

योगी चार प्रकार के होते हैं। संयमजप्रज्ञा प्रवृत्तमात्र परचित्तादि ज्ञान जिसका

वशीकृत नहीं हुआ वह अभ्यासी प्रथम–कल्पिक। ऋतम्भरप्रज्ञ "ऋतं सत्यमेव विभर्ति" इस व्युत्पत्ति से पर प्रत्यक्ष ही ऋतम्भरप्रज्ञ यहाँ विवक्षित है, वही भूतेन्द्रिय का जिगीषु है। निर्वितर्करूपा भूमिका। मधुभूमिक द्वितीय। स्थूलादि संयम से और ग्रहणादि संयम से जो भूत और इन्द्रिय समूह को जीत लिया। प्रज्ञाज्योति– जो भावित उत्पादित सब निर्वितर्क योगों में रक्षारूप बन्ध कर लिया और भावित उत्पादीय में विशोका समाधि से लेकर असंप्रज्ञा पर्यन्त साधन कर लिया, वह भूतेन्द्रिय जयी तृतीय–प्रज्ञाज्योति। जिसका असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त विलय मात्र कर्तव्य अवशेष रह गया वह चतुर्थ अतिक्रान्त भावनीययुक्ता योगभूमिओं में स्थानि उपनिमन्त्रण की भूमि को अवतरण करते हैं–प्रथमकल्पिक में महेन्द्रादि देवताओं के उसकी प्राप्ति की शंका ही नहीं है, तृतीय में भी उनसे उपनिमन्त्रणीय नहीं क्योंकि भूतेन्द्रियवशित्व से ही उसकी प्राप्ति हो जाने से, चतुर्थ में भी पर वैराग्य सम्पत्ति द्वारा आशक्ति की शंका दूरोत्सारित है। परिशेष से द्वितीय ऋतम्भरा प्रज्ञ ही उपनिमन्त्रण का विषय है। उसमें मधुमती भूमि साक्षात् करने वाले योगी को स्थानी महेन्द्रादि देवता योगी का सत्त्वशुद्धि देखकर स्थान के निमित्त उपनिमन्त्रण करते हैं – हे योगीराज ! आइये, बैठिए, आनन्द ले लीजिए, यह कमनीय भोग, कमनीय कन्या, जरा मृत्यु को बाँधने वाले रसायण, आकाशगामी यान, कल्पद्रुम समूह, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धगण, महर्षिगण, उत्तम अनुकूल अप्सरायें, दिव्य श्रोत्र चक्षु, वज्रोपमकाय, आप आयुष्मान् ये सब आप अपने गुण से ही उपार्जन किया, हे देवता के प्रिय ! यह अक्षय अजर अमर स्थान भोग करिये।" इस प्रकार कथित होने पर संगदोष की भावना करें। "घोर संसारानल में ज्वलाये जाने वाला मैं जन्म मृत्यु रूप चक्र में पिशे जाने वाले किसी प्रकार से क्लेशरूप तिमिर का नाश करने योगरूप प्रदीप को प्राप्त किया, उसकी तृष्णासम्भूत विषय वायु प्रतिपक्ष निर्वाण करने वाले, इस प्रकार से प्रकाश प्राप्त होकर पुनः विषयमृगतृष्णा से वञ्चित होकर पुनः प्रदीप्त संसाराग्नि में अपने को इन्धन बना लूँ। इसलिए कृपणजन प्रार्थनीय स्वप्नोपम को स्वस्ति हो जाये।" इस प्रकार निश्चित करके समाधि की भावना करें। संग को न करके स्मय भी नहीं करना चाहिए। स्मय–"अहो मैं देवता की प्रार्थनीय" स्मय से अपने को सुस्थिर मानकर और संसार की अनित्यता की भावना नहीं रहेगी, उस समय क्लेशादिरूप प्रमाद अपना स्वरूप विस्तार करके प्रणिधान साधन से दूर ले जायेगा। उससे पुनः अनिष्ट प्रसंग। इस प्रकार संग और स्मय न करने पर भावित विषय दृढ़ होगा, भावनीय अर्थ भी अभिमुखी हो जायगा ॥ ५१॥

सर्वज्ञत्व में भी वैराग्य होने से मोक्ष होता है– कहा गया, यदि राग रह गया हो तो, उस राग निवृत्ति के लिए पूर्ववत् सर्वज्ञता साधक संयमान्तर कह रहे हैं –

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।। ५२।।

प्रतिक्षण हर वस्तु परिणाम को प्राप्त होता है । अतः क्षण में अर्थात् उसके क्रम में संयम द्वारा साक्षात्कार करने पर सर्ववस्तुओं के हर परिणाम और उन क्रमों के भी ज्ञान से सव वस्तुओं का विवेकज्ञान हो जाता है। जैसे कि घटादि अवयविओं की अवयव धारा का तो परमाणुरूप में पृथिवीतत्त्व में विश्राम होता है, परन्तु उसके आगे पृथिवीतत्त्व मिलता नहीं । इसी प्रकार काल का समय विशेष का संवत्सर मासादिधारा का कालतत्त्व में क्षणरूप में विश्राम हो जाता है । उस क्षणों का जो क्रम तत्प्रवाह का अविच्छेदरूप है । क्षण और क्रम का वस्तुतः कोई समाहार नहीं है, मुहूर्त अहोरत्रादि बुद्धि का समाहार है, कालरूप वस्तुशून्य बुद्धि निर्मित शब्द ज्ञानानुपाती लौकिक व्युत्थित दर्शन अवस्था में वस्तु स्वरूप जैसे अवभासित होता है, क्षण तो वस्तु का अधिकरण रूप है न कि कोई वस्तु । वस्तुरूप से कल्पित वस्तु का भी अधिकरण क्रम से अवलम्बित होकर गृहीत होता है । जिसलिए क्रम निरन्तर ज्ञानरूप उस कारण से कालविद् योगी लोग क्षण नैरन्तर्य को काल के रूप से कहा करते हैं । दो क्षण एक साथ नहीं रह सकते, क्रम में भी दो का सहभाव असम्भव है । पूर्व का उत्तरभावी जो आनन्तर्यक्षण उसी को क्रम कहते हैं । सुतरां वर्त्तमान एक ही क्षण होता है, पूर्वोत्तर क्षण नहीं, सुतरां समाहार भी नहीं है, जो कि भूत भावी क्षण वह परिणामान्वितरूप से कहा गया है । इससे किस क्षण के साथ सव लोग परिणाम को अनुभव करते हैं ? वर्तमान एक क्षण ही अधिकरणक धर्म है, बाकी सबका सब अतीत अनागतधर्म, अतीत अनागत धर्म का भी सूक्ष्मरूप से वर्त्तमान होने पर क्षण और उसका क्रम में संयम करने से विवेक ज्ञान का प्रादुर्भव होता है ।।५२।।

यद्यपि इस विवेक ज्ञान का निःशेष भाव विषय को आगे कहेंगे, फिर भी अतिसूक्ष्म विषयक होने से उसके विषयविशेष का उपन्यास करते हैं ।

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।।५३।।

विवेकज्ञान के विषयविशेष का उदाहरण – जाति लक्षण देश से अन्यता का अवच्छेदन होने से भेद का अवधारण असम्भव हो जाता है । इस कारण से विवेकज्ञान से ही प्रतिपत्ति – विवेक से साक्षात्कार पौरुषेय हो जाता है । कालभेद से समान देशस्थ समानरूप वाले गौ और गवय का भेद जाति के भेद से ही अनुमान करना सम्भव है । लक्षण द्वारा अन्यता, जात्यादि के समान होने पर भी कालाक्षी गौ और स्वस्तिमती गौ इस प्रकार दो आँवले के जाति को लक्षण समान होने पर भी देश से अन्यता यह पूर्व का, यह पर का इस प्रकार, लौकिक प्रविभाग सम्भव नहीं होता किन्तु विवेकज्ञान असंदिग्ध होने से विवेकज तत्त्वज्ञान से हो सकता है, कैसे ? पूर्व आमलकसहक्षण देश

अर्थात् जिस क्षण में पूर्व आमलक जैसा था उस देश के साथ जिस क्षण था, तत्क्षणव्यापी परिणाम युक्त वह आमलक, इस प्रकार उत्तर आमलक, इस कारण से वे दोनों आमलक अपना-अपना देश में भिन्न होता है– इस प्रकार इसकी अन्यता है। इस प्रकार दो परमाणु का भी पूर्वोक्त रीति से भेद साक्षात्कार योगीश्वरों का हुआ करता है। कोई कहते हैं- जो अन्त्याविशेष वह अन्यता प्रत्यय करते है। वहाँ भी देश लक्षणभेद मूर्ति व्यवधिजातिभेद भी अन्यता का हेतु है क्षणभेद तो योगीबुद्धिगम्य ही होता है। इसलिए कहा जाता है मूर्तिव्यवधि–जातिभेद न रहने से मूल पृथक्त्व नहीं है – वार्षगण्यमत ॥५३॥

विवेकज ज्ञान का एक विषय प्रदर्शन करके अभी विवेकज्ञान का सहेतुक मोक्षोपयोगिता को कहते हैं–

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥

विवेकजज्ञान सर्वविषयादिरूप है, अतः सर्वत्र दोष साक्षात्कार से उक्त वैराग्य द्वारा संसार को तारक होता है, इसलिए विवेकजज्ञान का यह लक्षण जानना चाहिए। सुतरां इस लक्षण से सत्त्वपुरुष अन्यताख्यातिजन्य सर्वज्ञता का भी संग्रह होने पर इस सूत्र में भाष्यकार विवेकजज्ञान शब्द से प्रत्येक विशेषण को व्याख्यान करते हुए तारक शब्द का अर्थापत्ति लब्ध अर्थ को बताये हैं। इसका तात्पर्य – लौकिक सामग्री के बिना ही यथार्थज्ञान सामर्थ्य सत्त्वपुरुष अन्यतासंयमक्षण तत्क्रमसंयम से उद्बोधित जो प्रतिभा उससे उत्पन्न जो स्वप्रतिभोत्थ संस्कार, वह संसार का तारक है, अर्थात् अर्थापत्ति से स्वप्रतिभोत्थ ही संसार तारक होता है। क्योंकि वह अनौपदेशिक है। शब्द का शाब्दज्ञान सर्वथा सर्वविषयक हो नहीं पाता, सामान्यमात्र विषयक होता है, परिच्छिन्नविषयक भी होता है। सर्व विषयक कहने से यह असंकुचित सर्वविषय को समझना चाहिए। सतुंरा अतीतादिरूप सर्व सर्वथा निःरोषरूप से विषय करता है। जिस ज्ञान में पौर्वापर्य नहीं है वह अक्रम अर्थात् एकक्षण उपारूढ़ बुद्धिवृत्ति में आरोहण करता है। यही सूर्यतुल्य ज्ञान का अंश योगप्रदीप मधुमती है। स्थान्युपनिमत्रण सूत्र में ऋतम्भराप्रज्ञा नाम से द्वितीय भूमि में योगी को मधुभूमिक कहा गया है, वही भूमि को यहाँ मधुमती के रूप से कहा गया। इसको लेकर सात प्रकार प्रान्तभूमि प्रज्ञारूप से पूर्वोक्त सम्प्रज्ञात समाप्ति पर्यन्त भूमिका समूहयोगप्रदीप जानना चाहिए। वे ही भूमिका समूह विवेकजज्ञान का विषयैकदेश प्रकाशक, सुतरां अंशरूप है। यदि कहें, सवितर्कादिरूप तथा परिणाम संयमादिरूप जो सम्प्रज्ञात योगभूमियाँ पहले कही गयीं, योगप्रदीपरूप से – विवेकजज्ञानरूप से क्यों नहीं निर्देश किया ? योगवह्निकणरूप उनके अति अल्पत्व का विवक्षा से कहा है। प्रकृष्ट भूमिरूप से इन योगप्रदीपों का इसके अंशरूप से ही कणतुल्य भूमियों का

अशांश प्राप्त होते हैं। इसलिए अन्यान्य ज्ञान ब्रह्मविवेक ज्ञानरूप सूर्य के सामने प्रदीपतुल्य विवक्षा से कहा गया है ॥ ५८ ॥

इस प्रकार परम्परा से कैवल्य का सविभूति संयमों को कहकर सत्त्वपुरुष का अन्यताज्ञान साक्षात्कैवल्यसाधन, यह कहने के लिए सूत्र का अवतरण कर रहे हैं। विवेकजज्ञान हो कि न हो सत्त्वपुरुष अन्यथाख्याति तो कैवल्यप्रयोजिका निश्चित कहते हैं–

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ।।५५।।

बुद्धिसत्त्व की शुद्धि होने पर पुरुष की समता अर्थात् सत्त्व का सर्व कर्तृत्वाभिमान निवृत्ति से स्वकारण में अनुप्रवेश और पुरुष का उपचरित भोगाभावरूप शुद्धि से स्वसाम्यता से कैवल्य अर्थात् विवेक द्वारा अधिकार प्राप्त दग्धक्लेशवीजरूप बुद्धिसत्त्व पुरुष का स्वरूप और पुरुषवत् शुद्ध गुणरूप मलरहित जैसा होता है– यही सत्त्व का शुद्धिसाम्य है। उस समय शुद्धपुरुष का गौणी शुद्धि उपचार हीनता अर्थात् वृत्तिसारूप्य अप्रतीति तथा अपने साथ समतादृष्टि, इस अवस्था में कैवल्य प्राप्त होता है। योगैश्वर्य प्राप्त हो वा न हो ऐश्वर्य की इच्छा न रखने वाले की सम्यग् विरक्त ज्ञानयोगी के विभूति का प्रकाश न होने पर भी कैवल्य हो जाता है, ज्ञान से क्लेशवीज दग्ध हो जाने से और कोई अपेक्षा नहीं रहता। उनका तो ज्ञान का ऐश्वर्यरूप सत्त्वशुद्धि ही फल है। परमार्थ-दृष्टि से मोक्षाकांक्षी को विवेकज्ञान से अविवेकरूप अविद्या की निवृत्ति, और अविद्या की निवृत्ति से क्लेश सन्तति विच्छिन्न हो जाती है। वही पुरुष का कैवल्य है, दृश्य के विलय से द्रष्टा पुरुष का केवल रूप में अवस्थान। उस समय पुरुष को स्वप्रकाश अमल केवली कहा जाता है। वहाँ वृत्ति सारूप्य का अभाव है।

इस प्रकार अन्तरंग योगांगत्रय को कहकर, उसका भी संयम संज्ञा देकर, संयम-का भी विषय प्रदर्शन निमित्त परिणामत्रय का उत्पादन करके संयम बल को उत्पन्न करने वाले पूर्वान्त परान्तमध्य से उत्पन्न सिद्धिओं को दिखाकर समाधिका आश्वासन उत्पन्न करने के लिए वाह्य भुवन ज्ञानादिरूप, आभ्यन्तरकाय व्यूहज्ञानादिरूप को दिखाकर समाधि के उपयोग निमित्त इन्द्रिय-प्राणजयादि पूर्वक परमपुरुषार्थ निमित्त यथाक्रम अवस्था सहित भूतजय इन्द्रियजय सत्त्वजय से उत्पन्न विवेकज्ञान की उत्पत्ति निर्मित्त उस उपाय को उपन्यास करता हुआ तारक का सर्वसमाधि अवस्था पर्यन्त स्वरूप को कहकर उसकी समापत्ति के लिए अधिकार प्राप्त चित्तसत्त्व का स्वकारण में अनुप्रवेश से कैवल्य की उत्पत्ति कही गई। इस प्रकार विभूति पादनिर्णित हुआ।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्र में
सच्चित्तीर्थ विरचित रहस्य चन्द्रिका टीका में तृतीय विभूतिपाद ॥

ॐ

योगदर्शन

चतुर्थ कैवल्यपाद

इसप्रकार प्रथमद्वितीय एवं तृतीयपादमें समाधि और उसका साधन तथा विभूतियोंकी प्राधानतासे व्याख्यान किया गया। इस पादसे उसके हेतु कैवल्यकाका व्युत्पादन करना है। उसमें पहले कैवल्य योग्य चित्तके निर्धारणके लिए पाँच प्रकार की सिद्धियाँ कह रहे हैं। इसी प्रसंगसे जन्मादिसिद्धिकी अपेक्षा समाधिसिद्धिका उत्कर्ष दिखाया जायेगा।

जन्मौषधिमन्त्रलयः समाधिजाः सिद्धयः ।।१।।

काय चित्त और इन्द्रियों का अभीष्ट उत्कर्षप्राप्तिको सिद्धि कही जाती है। वह सिद्धि जन्मादि पाँच प्रकारके होते हैं। कर्मविशेषसे अन्य जन्म में प्रादुभूर्त देहवैशिष्ट्य प्राप्ति की जन्मजा, यथा– किसीका साधन आदि के विना भी शरीर प्रकृतिविशेष से परचित्तज्ञान, दूरदर्शनादि देखा जाता है। औषधिजा– मनुष्य ही किसी निमित्त से असुर भवन प्राप्त होकर कमनीय असुर कन्याओं द्वारा रसायनका उपयोग करके अजर अमरात्मक सिद्धि प्राप्त करता है। मन्त्रजा– मन्त्रके अनुष्ठानसे आकाशगमन अणिमादिका लाभ होता है। तपजा- तपसे संकल्पकी सिद्धि, जैसा विश्वामित्रजी ने संकल्पसे नवीन सृष्टि आरम्भ किया था, क्षत्रिय होकर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। समाधिजा - पूर्व पादों में व्याख्यान किया गया है ॥१॥

जब सिद्धियाँ होती है तब सिद्धके शरीर-इन्द्रियों आदिका भी परिणाम देखे जाते हैं, और पहले अन्य जातीय परिणत इन्द्रियों का पश्चात् अन्य जातीय परिणाम क्यों होता है ? इस आकांक्षा का उत्तर देते हैं–

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापुरात् ।।२।।

यहाँ प्रकृति का अर्थ कारण, आपूर - अनुप्रवेश, तथा मनुष्यजातीय परिणत शरीर इन्द्रियों का जो तिर्यगादि परिणाम, वह कारणके अनुप्रवेशसे होता है, जैसे शरीर की प्रकृति– कारण पंचभूत, इन्द्रियों की प्रकृति–अस्मिता, जब कारणरूप पञ्चभूतों में परिणाम होता है, तब तज्जन्य शरीर का भी परिणाम होने पर इन्द्रियोंका परिणाम होता है। योगिओं का पाञ्चभौतिक शरीर योगप्रभाव से परिणाम को प्राप्त होता है। तभी जल या आकाश आदि में विहार सम्भव होता है। वह प्रकृति दो प्रकार के – कर्माशयव्यङ्ग्या अनुभूतपूर्वा वासनारूपा तथा अननुभूतपूर्वा अव्यपदेश्या दैवादिविपाक के अनुभूत से

उत्पन्न वासनरूपा प्रकृति अनुभूतपूर्वा । ध्यानज- सिद्ध प्रकृति तो अननुभूतपूर्वा, अनुभूयमान विक्षेप का प्रहाणं रूप निमित्त से वह अभिव्यक्त होता है । जैसे कि मानुष प्रकृति वाली चक्षु में दैव प्रकृति वाली चक्षु संस्कार रूप अपूर्व अवयव का अनुप्रवेश से मनुष्य चक्षु ही दैव व्यवहित दर्शन प्रकृति वाली वन जाती है । इस प्रकार कायेन्द्रिय प्रकृतियाँ भी स्व स्व स्वाधिष्ठान विकार काय और करण को आपुर से अनुग्रह करके अभिव्यक्त करता है। धर्मादि निमित्त अपेक्षा करके ही होता है – जैसा नन्दीश्वर को मनुष्य शरीर से देवशरीर की प्राप्ति ।।२।।

यदि धर्मादिनिमित्त से प्रकृतियाँ आकृष्ट हो तब प्रकृति का स्वातन्त्र्या-सिद्धान्त की हानि हो जायेगी, ऐसा कहने पर-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।।३।।

प्रकृतिओं का – कारणों का, प्रयोजक-प्रेरक, निमित्त धर्मादि नहीं होता, धर्मादि प्रकृति के कार्य होने से, धर्मादि कार्य होने से स्वकारण प्रकृति का प्रयोजक नहीं हो सकते, कार्य कारणाधीन उत्पत्तिक वाला होने से वह कारणका परतन्त्र है और जो स्वतन्त्र है, वही प्रयोजक होता है । उत्पन्न होने वाला कार्यरूप घट कुलालके विना मृद्दण्ड चक्रादि को प्रयुक्त नहीं कर सकता, किन्तु स्वतन्त्र कुलाल ही करता है । इसी प्रकार कार्यात्मक धर्मादि स्वतन्त्र नहीं, सुतरां प्रयोजक भी नहीं, परन्तु स्वतन्त्रा मूल प्रकृति ही प्रयोजिका इस कारण से प्रकृति की स्वातन्त्र्य हानि नहीं होती । यदि प्रकृति स्वतन्त्रा हो तब धर्मेश्वर योगी के संकल्पादि से प्रकृति के परिणाम निमित्तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता ? अनुष्ठीयमान धर्म से वरण-आवरक अधर्मादि का भेदन होता है । प्रतिबन्धक क्षय होने पर प्रकृति स्वयं स्वाभिमत कार्य में प्रवृत्त होती है । जैसे कृषक एक केदार से अन्य में जल लेने की इच्छा से प्रतिबन्धक आवरण का भेदनमात्र करता है, जल स्वयं ही प्रसारित होकर परिणाम प्राप्त होता है, उसके लिए कृषक के कोई प्रयत्न का आवश्यक नहीं होता, इसी प्रकार धर्मादि का आवरण भेदकत्व ही जानना चाहिए, अर्थात् अधर्मकी निवृत्तिमात्र में कारण, क्योंकि शुद्धि-अशुद्धि में अत्यन्त विरोध है । प्रकृति प्रवृत्ति में धर्म हेतु नहीं होता, जैसा नन्दीश्वरादि, विपरीत अर्धम धर्म का बाध करता है जैसे – नहुष की अजागरत्व प्राप्ति । सिद्धादि के कायेन्द्रिय का परिणाम ही चिन्तन किया गया है ।।३।।

जब योगी बहुकायों का निर्माण करते हैं तब वे क्या एकमन वाले होते हैं । या अनेकमन वाले ? यदि नाना मन माने जाय, तो शरीर का भेदे से प्रतिचित्त भेद होने पर पुरुषान्तर की प्राप्ति, तव एक के अभिप्राय के अनुरोध से परस्पर प्रतिसन्धान नहीं होगा, सुतरां एक ही चित्त प्रदीप के जैसा विस्ताररूप से बहुत निर्माण कायों में व्यापक

होता है, वही कहते हैं–

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।।४।।

योगिओं के संकल्प से स्वयं निर्मित देह में, देह का समसंख्यक चित्त होते हैं। उनमें संकल्प ही एकमात्र निमित्त होता है, इसलिए अस्मिता को ही कारण माना जाता है। इसलिए जितने शरीर अन्तःकरण भी उतने ही हैं। यदि निर्मातृचित्त एक का ही प्रदीप के जैसा कायव्यूह प्रकाशवृत्ति सम्भव होने पर किस निमित्त से देहभेद से अन्तःकरण का भेद मानते हैं ? समाधि और योग, ज्ञान और अज्ञान का एक ही चित्तसे विरोध होने पर चित्तभेद सिद्ध होता है। इसलिए योगिओं के शरीरके भेदसे नानाचित्त द्वारा परस्पर विरुद्ध नाना कार्य देखा जाता है ।।४।।

यदि एक ही योगी का स्वनिर्मित शरीरों में विभिन्न चित्त हैं, तब बहुचित्तों के भिन्न-भिन्न अभिप्राय होने से एक कार्यत्व कैसे उत्पन्न हो सकता है? ऐसी आशंका होने पर–

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।।५।।

उन अनेकों का प्रवृत्तिके भेदमें– व्यापार नानात्वे, एक ही योगी का चित्त प्रयोजक - अधिष्ठातृरूपसे प्रेरक होता है – जैसा स्वशरीरस्थ मन श्रोत्र चक्षुरादि इन्द्रियों को अधिष्ठातृरूपसे ग्रहण करता है, वैसा ही योगी पूर्वसिद्ध जो चित्त वही सर्वचित्तों का प्रयोजक होकर निर्माण करते हैं अर्थात् नियामक होता है। इस कारणसे मूल चित्त का अभिप्रायसे उन अवान्तर चित्तसमूहकी प्रवृत्ति उपपन्न होती है। सुतरां एक कार्यकारित्व युक्ति युक्त ही है ।।५।। इसप्रकार उक्त पांच प्रकार सिद्धचित्तों में अपवर्गयोग्य चित्तका निर्धारण करते हैं–

तत्र ध्यानजमनाशयम् ।।६।।

आशय– कर्मवासना और क्लेशवासना जिसमें नहीं होते, वह अनाशय चित्त अपवर्ग योग्य होता है। क्योंकि योग द्वारा ज्ञानोत्पत्ति होने से वासना का उच्छेद सम्भव है, मन्त्रादिसे वासनाका उच्छेद नहीं होता। जिसलिए अनाशय चित्त का रागादि निबन्धन प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए पाप-पुण्य सम्बन्ध भी नहीं होता, क्योंकि वे क्षीण क्लेश हो चुके हैं, अन्यान्य मन्त्रादि सिद्ध चित्त का कर्माशय विद्यमान रह जाता है ।।६।।

जैसा अन्यान्य चित्तकी अपेक्षासे योगीका चित्त विलक्षण क्लेशादि रहित तथा योगीका कर्म भी विलक्षण दिखाते हैं–

कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।७।।

सामान्य कर्म चतुर्विध हैं– कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल, अशुक्लकृष्ण। उनमें अयोगीका तीन प्रकार। उनमें कृष्णकर्म ब्रह्महत्यादि तमवर्धक – दुःखप्रद नारकिओं के, कृष्णशुक्ल रजवर्धक सुखदुःख उभय फलप्रद मनुष्यका, शुक्ल सत्त्ववर्धक सुखमात्र

फलद-याग-दान-तपादि । ज्ञानी निष्काम-कर्मी-संन्यासी योगिओं का कर्म प्रथम त्रिविध से विपरीत अशुक्लकृष्ण । जिसलिए फलत्यागपूर्वक ही अनुष्ठान किया जाता है इसलिए कोई फलारम्भी नहीं होता । वह निष्काम कर्म करता है, अतएव क्लेश कर्म विपाकाशयरहित होता हुआ परमेश्वर का शरण लाभ करता है । परमेश्वर में सर्वक्रियाओं का समर्पण ही अशुक्लकृष्णकर्म जानना चाहिए ।।७।।

कर्माशय का विवेचन करके क्लेशाशय की गति कह रहे हैं–

ततस्तद्विपाकानुगुणामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।८।।

कर्मवासना द्विविधा, स्मृतिमात्रफला और जाति आयुभोगफला उसमें जाति-आयु-भोगफला एक या अनेक जन्म से उत्पन्न, पहले यह दिखाये गये । जो कि स्मृतिमात्रफला उसमें जिन कर्मों से देवमनुष्यतिर्यगादि भेद से यादृश शरीर आरम्भ हुआ उस विपाक का अनुरूप वासना उस वासना की ही अभिव्यक्ति है । उसका तात्पर्य जिन कर्मों से पूर्वदेवतादि शरीर आरम्भ हुआ जात्यन्तरशतव्यवधान से पुनः उस प्रकार शरीर का ही आरम्भ में तदनुरूपा ही स्मृतिफला वासना प्रकटित होती । लोकोत्तर विषय में ही उसकी स्मृति का उदय होता अन्यान्य सव होता हुआ भी अव्यक्त रूप से रहते हैं, उस दशा में नारकादि शरीरोद्भववासना व्यक्त नहीं होती ।।२।।

वहुजन्मव्यवहित वासना की अभिव्यक्ति कर्म फल की अन्यथा अनुपपत्ति प्रमाण से साधन करते हैं –

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।।९।।

इस संसार में संसारी नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ कई योनि का अनुभव करके जब सहस्रयोनिओं के व्यवधान से पुनः उसी योनि को प्राप्त होता है, तब उस पूर्व अनुभूत योनि में तथाविध शरीरादिव्यञ्जक की अपेक्षा से जो वासना प्रकट हुयी थी वे तथाविधव्यञ्जकाभाव से तिरोहित हो जाने पर पुनः तथाविध व्यञ्जक शरीरादि के लाभ होने से प्रकट होता है । जाति देश काल का व्यवधान होने पर भी उन स्व अनुरूपस्मृत्यादि फलसाधन का आनन्तर्य नैरन्तर्य होता है । क्यों ? स्मृति और संस्कार का एकरूप होने से । क्योंकि अनुष्ठीयमान कर्मका चित्तसत्त्वमें वासनारूप संस्कार उत्पन्न होता है । वह स्वर्गनरकादि फलों का अंकुरीभाव कर्म वा यागादिकी शक्तिरूप में अवस्थान अथवा कर्त्ता का उस प्रकार भोक्तृ-भोग्यत्वरूप सामर्थ्य संस्कारसे स्मृति, स्मृति से सुख-दुःख भोग, उस अनुभव से पुनः संस्कार स्मृत्यादि, इस प्रकार जिसकी स्मृतिसंस्कारादि भिन्न-भिन्न होता है उससे आनन्तर्य के अभाव से कार्यकारणभाव भी दुर्लभ होता है। जब हम लोगों का अनुभव ही संस्कार होता है और संस्कार भी स्मृतिरूपमें परिणत होती है, तब एक ही चित्त के अनुसन्धातृरूपसे स्थित होने से कार्यकारणभाव दुर्घट नहीं है । इस

प्रकार व्यवहित कार्यकारणभाव का अनुच्छेद से आनन्तर्य भी युक्ति युक्त है॥९॥ वासनाओं का आनन्तर्य और कार्यकारण भाव तभी होगा, यदि प्रथम ही अनुभव हो, तब क्या वासना निमित्त अथवा तन्निमित्त? इस शंकाका निराश करने के लिए कहते हैं–

तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात् ।।१०।।

वासना अनादि क्यों ? आशी महामोहरूपा, नित्या, क्योंकि इसका व्यभिचार कहीं देखा नहीं जाता है । जातमात्रमें देखा जाता है, जनिष्यमानमें भी होगा, इस प्रकार सर्वकालमें आशी देखा जाता है । वह आशी स्वाभाविकी नहीं है क्योंकि मरणरूप दुःख की अनुस्मृति निमित्त होती है । स्मृति संस्कारसे उत्पन्न होती है, संस्कार भी अनुभव से, सुतरां सर्वप्राणिओं से अनुभूत मरण दुःख, वर्तमान कालीन अनुभूत मरण दुःख के जैसा सबसे सर्वदा यदि माना जाय तब्र समस्त प्राणिओं की आशी का मूलभूता वासना अनादि है । वह स्वाभाविक नहीं किन्तु निमित्त से उत्पन्न होती है । जैसा शरीरका रूप स्वाभाविक शरीर विद्यमान होने से वह उत्पन्न नहीं होते । अनुत्पन्न अथवा सहोत्पन्न धर्म रूप भाव को ही स्वभाव कहते हैं । "घट प्रासादादिमध्यस्थ दीपक जैसा घट प्रासाद परिमाण संकोच विकाशी वैसा चित्त भी गृह्यमाण युक्ति का हस्ति आदि शरीर परिमाण होता है । ऐसा होने पर पूर्वोत्तर शरीर ग्रहण के बीच में जो भाव उसको अतिवाहिक भाव माना जाता है । संसार भी ऐसा ही है ।" इसको निर्ग्रन्थन्याय कहा जाता है । यह समीचीन नहीं है, चित्त कोई दिक् अधिकरणक वस्तु नहीं है, कालमात्र व्यापी क्रियारूप होने से, अमूर्त चित्त को हस्ति आदि द्वारा परिमाण नहीं किया जा सकता, सुतरां उसका दीर्घ ह्रस्वत्व आदि की कल्पना व्यर्थ है । दिक् अवयव रहित होने से चित्त विभु–सर्वभाव पदार्थ के साथ सम्बन्ध वाला, न कि विभुत्व-सर्वदेश व्यापित्व, क्योंकि चित्त व्यवसायरूप होता है, उसकी वृत्ति ही संकोच विकाशिनी है यही योगाचार्यों के मत हैं। जैसे जिस दृष्टि तिल में न्यस्त होने से तिल को ग्रहण करती है, वही दृष्टि आकाश में न्यस्त होने से महान् आकाश को ग्रहण करती है, इससे दृष्टि-शक्ति का क्षुद्रत्व वा महत्त्व नहीं होता । उसी प्रकार चित्त भी विवेकज्ञान प्राप्त होने पर सर्वत्र सर्व सम्बन्धि विभु होता है । वही चित्त मलिन संकुचित वृत्ति वाला होने पर अल्पज्ञ आदि होता है । श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा आध्यात्मिकमनोमात्राधीन निमित्त कहे गये । मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा रूप जो ध्यायिओं की चर्चा, वे वाह्यसाधन निरपेक्षा, वे शुक्ल धर्म को निष्पादन करते हैं, उनका मन बलवान् होता है, ज्ञानवैराग्य जनित धर्म अन्य सवधर्म को अभिभव करके बीजभाव को अपनयन करता है । चित्त- बल से अतिरिक्त कौन शरीर कर्म द्वारा शून्य दण्डकराज के उपर क्रोधान्वित होकर शुक्रचार्य सात दिन निरन्तर शिलावर्षण करने में समर्थ हुए थे। (दण्डकारण्यमें शुक्राचार्य अभिसम्पात से पांशुवर्षण

कर सारा राज्य जनशून्य कर दिये थे ।) अगस्त्य ने सागर पी लिया था ॥१०॥

इस प्रकार यदि कार्यकारण के तादात्म्य से वासनाओं के अनादित्व प्राप्ति की हो तथा उसका कभी हान नहीं होगा उससे आत्मा का भी अनिर्मोक्ष हो जायेगा, ऐसा कहने पर कहते हैं – नहीं –

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।।११।।

अनादिका भी समुच्छेद देखा जाता है, जैसा प्रागभाव । हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासना संगृहीत होती है । उनका नाशसे वासनाका भी नाश सुकर हो जाता है । इससे ही षड़रा युक्त संसार चक्र प्रवृत्त होता है । धर्माधर्म सुखदुःख और रागद्वेष ही षड़रा है । उनमें धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख, सुखसे राग, दुःखसे द्वेष, रागसे तद्विषयानुकूल प्रयत्नवान् धर्म करते हैं । द्वेषसे तद्विषय परित्यागानुकूल प्रयत्नवान द्वेष द्वारा प्रेरित होकर अधर्म करता है । इस प्रकार पुनः सुखदुःख पुनः रागद्वेषको प्राप्त करता है । इस प्रकार हमेशा इस संसारचक्र प्रवर्तित होता है । षड़राका मूलहेतु घुमाने वाली अविद्या है । वासनाओं का साक्षात् या परम्परासे कारणभूता अविद्या जब तक रहती है, तब तक वासना होती है ।

आश्रय – जब तक चित्त रहता है तब तक वासना होती है ।

आलम्बन – सुखादि प्रद विषयों में जबतक तृष्णा रहती है तबतक वासना होती है । वासना युक्त जीवों में जो अविद्या उसका सत्त्वज्ञानरूप अग्नि से वीजभाव का दग्ध हो जाने पर कारण नाश के फल स्वरूप धर्माधर्म का भी लय हो जाता है । चित्त भी विवेकख्यातिवान् पुरुष का स्वकारण प्रकृति में लय हो जाता है । इससे विषयतृष्णा तो सुतरां लय हो जाती, इस प्रकार हेतु फल आश्रय और आलम्बनों का नाश से उनका आश्रित वासना का सुतरां अभाव (क्षय) हो जाता है ॥११॥

योग की सत्ख्याति सिद्धान्त में सबकुछ सत्कार्य का स्थूल सूक्ष्म, अन्यतरावस्थ सर्वदा सत्तावद् ही माना जाता है, उसकी असत्ता कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता । इसलिए सत् का कभी विनाश नहीं होता, असत् का भी उत्पत्ति नहीं होती । अतः सद् रूप वासनाओं का लय कैसे युक्त मान सकते ? यदि ऐसा कहे, तो लय का अर्थ– अतीत अवस्था प्राप्त। एक ही वस्तु सर्वदा स्थायी होता हुआ भी–

अतीताऽनागतं स्वरूपतोऽस्ति अध्वभेदाद्धर्माणाम् ।।१२।।

जो स्वरूपसे सत्तालाभ किया वह कैसे निरूपाख्यता वा अभाव-रूपता हो जायेगा? अतः इस धर्म द्वारा विपरिणाम प्राप्त धर्मी सर्वदा एकरूप से ही अवस्थित रहता है । धर्म समूह ही त्रैकालिकरूपसे व्यवस्थित होता हुआ, अपने-अपने व्यवस्थित रहते हुए अपने स्वरूपको त्याग नहीं देते । वर्तमान कालमें व्यवस्थित धर्म वस्तुकी

स्थूलावस्था सम्पादन करता हुआ केवल योग्यतारूप बन जाता है। जब अतीत काल में व्यवस्थित होता है तब सूक्ष्मावस्था (लय) प्राप्त होकर अयोग्य हो जाता है, जब अनागत अवस्थामें उस धर्म होता है तब योग्यताकी अभिमुखताका व्यञ्जक होता हुआ अवस्थान करता है, उस समय में भी सूक्ष्मावस्था कही जाती है। इस धर्मकी स्थिति मार्ग की भिन्नता से स्वरूप से सत् हुआ भी वस्तु अतीत और अनागतरूपसे व्यवहृत होती है। जो अतीत, भोगके बाद सूक्ष्मावस्थामें चले गये, तब भोग निमित्त सत्तावान् नहीं रहते हैं– लय प्राप्त हुआ कहा जाता है। जबकि भविष्यत कालमें कभी भी भोग योग्य नहीं, उसका स्वरूप भी लयगत जैसा मानना चाहिए। सुतरां धर्मका ही अतीत अनागत आदि अध्वभेदरूपसे ही कार्यकारणभाव इस दर्शनमें प्रतिपादन करते हैं। सुतरां अपवर्ग पर्यन्त एक ही चित्त धर्मीरूपसे अनुवर्तमान रहते हैं, इसको कोई खण्डन नहीं कर सकते ॥१२॥

यह विश्व प्रपंच धर्मी, धर्म, अवस्था, परिणामरूप नाना प्रकार भेद से बना हुआ है। एक प्रधान से बन नहीं सकता, न कि अविलक्षण कारण से कार्यभेद सम्भव इसके बारे में कहते हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

त्रैकालिक धर्मसमूह व्यक्त, सूक्ष्म और गुणात्मारूप तीन गुणसे अतिरिक्त इनका कोई कारण नहीं है। इसका वैचित्र्य तो क्लेश वासनासे अनुगत वैचित्र्यता से प्राप्त है। व्यक्त पृथिवी आदि एकादश इन्द्रियों का भी वर्तमान अतीत अनागतत्व षड़विशेष यथायोग्य होता है। सम्प्रति विश्व को नित्यानित्यरूप से विभाग करके नित्यरूप को कहते हैं– यह दृश्यमान विश्व गुणों का संस्थानभेद वाला परिणाम मात्र है। यही वहितन्त्र शास्त्र का अनुशासन क्रिया माया की तरह है, माया नहीं।

गुणानां परमं रूप न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥

गुणों का परमरूप अव्यक्तावस्था दृष्टि गोचर नहीं होती। जो गुण रूप दृष्टिपथ प्राप्त है, वह माया प्रदशित प्रपंच जैसा तुच्छ वैसा यह भी ॥१३॥

यदि तीन गुणों को सर्वत्र मूलकारण माना जाय तब क्यों एक धर्मी रूप से व्यपदेश होता है, इस प्रकार आशंका होने पर कहते हैं–

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥१४॥

यद्यपि तीन गुण ही कारणीभूत तथापि उनका अंगागीभाव निर्वाह स्वरूप जो परिणाम उसका एकमें ही प्रधानत्व माना जाता है। कार्यरूप वस्तु का भी एकजन्यत्वरूप

एकत्व सम्भव है। जहाँ सत्त्व प्रधान अन्य दो गौण, वहाँ सत्त्व आदि अन्य दो अंगभूत, इस प्रकार स्थिति में जो कार्य उत्पन्न होता है। उसको सत्त्व का परिणामरूप स्वात्त्विक कार्यरूप से व्यवहार किया जाता है। जब रजप्रधान, तब और दो गौण, उस समय प्रादुर्भूत कार्य को राजस कहा जाता है। तम प्रधान होने पर तामस माना जाता है। प्रकृति के कार्य सात्त्विक परिणामरूप बुद्धितत्त्व होता है। कार्य- काल में बुद्धितत्त्व में रज और तम भाग गौणरूपसे आविर्भाव होता है। बुद्धितत्त्वसे सात्त्विक अहंकारात्मक कार्य भी होता है। यद्यपि वह अहंकार सत्त्वप्रधान कार्यरूप माना जाता है। तथापि रज और तमका आविर्भाव होने से त्रिगुणात्मक राजस अहंकार से राजसकार्य और तामस अहंकार से तामसकार्य, इस प्रकार गुण प्रधानरूपसे सर्वत्र एक कार्यभाव सुसम्पन्न होता है। लोकमें भी बहुतों का एक परिणाम देखा जाता है। जैसे तैल-वर्ति-वह्नि का एक परिणाम दीपक है जहाँ अगांगी भाव नहीं है, वहाँ एक परिणाम नहीं होता, जैसे मिट्टी सुवर्ण आदि का ॥१४॥

ज्ञान से व्यतिरिक्त होने पर वस्तु एक है कि अनेक है यह कहना युक्त है क्या? जब विज्ञान ही वासना वशात् कार्यकारणभाव से अवस्थित होकर तत् तत् रूप से प्रति मात्र होता है तब कैसे यह कह सकते हैं, ऐसी आशंका करके कहते हैं-

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विविक्तः पन्थाः ॥१५॥

वस्तुतत्त्व एक है, वह वस्तु क्या है ? उसको खुलकर बताते हैं। शब्दादि विषयोंका जो मूल प्रकाश क्रिया और स्थिति धर्मवाला वाह्यद्रव्य, वही वस्तु है। वस्तु चित्तनिरपेक्ष स्वतन्त्र, चित्त से पृथक क्यों ? वस्तुसाम्य होने पर भी चित्त के भेद से बोध का पृथक्त्व माना जाता है। चित्तभेद से सुख होता है, अधर्मयुक्त को दुःख होता है, मूढ़ का उसको प्राप्त न होने से विवाद होता है, सम्यग्दर्शनकारी के लिए मध्यस्थ ज्ञान है। किसके चित्त से यह परिकल्पना किया गया ? एक चित्त से परिकल्पित अर्थ का अन्य चित्त में उपराग सम्भव नहीं, सुतरां वस्तु और ज्ञान का ग्राह्यग्रहणभेद भिन्नता, अत्यन्त भिन्न अवस्थिति है। इसका संकर होने का कोई सम्भावना ही नहीं। सांख्यपक्ष में – वाह्यवस्तु त्रिगुणात्मक; गुणवृत्त के चल होने से स्वपथियों कर के उसका परिणाम किसी की चित्त कल्पना नहीं है। धर्मादिनिंमित्ता- पेक्ष वस्तु चित्त द्वारा विषयी किया जाता है। उत्पद्यमान सुखादि प्रत्यय का धर्मादिनिमित्त तत् तत् रूप से धर्म से सुख, इत्यादि स्वरूप से हेतु होता है। सुतरां एक ही वस्तु द्वारा चित्तभेद की अपेक्षा से पृथक् सुख-दुःखादि का बोध, उससे चित्त पृथक् वस्तु भी पृथक् सिद्ध होता है ॥१५॥

यदि ज्ञान और अर्थ का ऐक्य न हो तो, दोनों का समकालीनत्व तो हो ही

जायगा। जिस कालावच्छेद से ज्ञान सत्तावान् उस कालावच्छेद से अर्थ को भी सत्तावान् मानना चाहिए। जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी, उस समय वस्तु की स्थिति क्या होगी ?

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।।१६।।

एक चित्तनियत वस्तु नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि एकचित्तनियत वस्तु माना जाय, तब चित्त विषयान्तर में या निरोध अवस्था में उस वस्तु का स्वरूप भी पता नहीं लगेगा। अतः उस समय अप्रमाण हो जायेगा। ग्राहक न रहने पर ग्राह्य भी मिथ्या हो जायेगा। ऐसा नहीं होता, किन्तु नियत कारण से ही व्यतिरेक द्वारा कार्यकारणभाव देखने में आता है। सुतरां उपादानकारण नियत ही कार्य होता है, न कि चित्तनियतसुतरां दृश्य वस्तु चित्त से भिन्न है, और वह सच्ची है ।।१६।।

चित्त और अर्थके विवेकका प्रकार दिखाये गये, अभी उनके सम्बन्धका विवरण दे रहे हैं-

तदुपरागापेक्षितत्त्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।।१७।।

वाह्यवस्तु चित्त में उपराग से आकार का समर्पण करने पर वह ज्ञात होता है, उपराग न होने पर अज्ञात रहता है। सव वस्तु जड़स्वभाव होने पर भी इन्द्रियरूप प्रणाली द्वारा चित्त को उपरञ्जन करता है। इस प्रकार चित्त को अर्थोपरक्त दर्पण में उपसंक्रान्त प्रतिविम्ब द्वारा चिति शक्ति चित्त को अर्थोपरक्त करता हुआ बताते हुए अर्थ का अनुभव करता है। न कि वस्तुमें कोई प्राकट्य का आधान करता है। व्यतिरिक्त अर्थ के सम्बन्ध का अभाव से ग्रहण करने में अशक्त होने से जिस वस्तु के साथ ज्ञान के स्वरूप का उपराग हुआ, उसी वस्तु ज्ञानरूप से व्यवहार योग्यता को प्राप्त होता है। जिसके साथ आकार का समर्पण नहीं हो पाता वह अज्ञात रह जाता है। चित्तका परिणाम ही ज्ञानात्मिका वृत्ति है। अतएव चित्त परिणामीरूप से सिद्ध है ।।१७।।

इस प्रकार परिणाम धर्मवाला अर्थ और चित्त वृत्तियाँ होती हैं और उससे भिन्न अपरिणामी चेतन का विषय चित्त है। उसको सिद्ध कर रहे हैं-

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्य अपरिणामित्वात् ।।१८।।

वृत्तिमान् पुरुष निरोधावस्था के पूर्वपर्यन्त सर्वदा क्षिप्त-मूढ़-विक्षिप्त और एकाग्र अवस्था में अवस्थान करता है, इसका कारण क्या ? पुरुष अपरिणामी होने के कारण से वह चित्त की वृत्तिओं को सदा देखता रहता है। इसलिए वह परिणामिओं से अतिरिक्त है। चित्त का प्रभु गृहीत पुरुष प्रमाण-विपर्ययादि वृत्तियों को सर्वदा देखता रहता है। अतः सवृत्तिकचित्त सर्वदा ज्ञात, वह प्रभु पुरुषका अपरिणामित्वका ज्ञापन करता है ।।१८।।

चित्त को ही यदि सत्त्वोत्कर्षसे प्रकाश माना जाय तो वह स्व और पर प्रकाशकत्व होने से अपने और वस्तुओं का भी प्रकाशक हो जायेगा; फिर चित्तसे भिन्न दूसरा द्रष्टा मानव की क्या आवश्यकता है ? इस आशंका निवारण हेतु कहते हैं –

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।।१९।।

चित्तको स्वाभास तब माना जा सकता, यदि वह स्वसंवेदनरूप हो, किन्तु ऐसा तो है नहीं, वह तो नीलपीतादि जैसे अनुभव व्याप्त वस्तु है । जो अनुभव व्याप्त होता है वह स्वाभास नहीं हो सकता, अपने में वृत्तिका विरोध होने से पुरुष तो अपरिणामी, अत: अनुभवका कर्म नहीं है । अपराधीन प्रकाश ही इसकी स्वप्रकाशता । चित्तदर्शन कर्म होने से दृश्य - स्वाभास नहीं । चित्तको यदि स्वाभास माना जाय तो अपना अनुभव ही वहाँ वाधक होगा, क्योंकि स्वचित्तव्यापारका अनुभवसे अर्थात् अनुव्यवसायरूप से । प्राणियों की प्रवृत्ति देखी जाती- में क्रोधी हूँ, मैं रोगी हूँ, इस प्रकार स्वचित्त का ग्रहण देखा जाता है । इससे निश्चय होता है कि चित्त किसी ग्रहीता द्वारा ग्राह्यवस्तु जड़ होता है, न कि स्वाभास ।।१९।।

चित्तकी स्वाभासतावादी मत में उसके मत का अवलम्बन करता हुआ ही अन्यप्रकार दूषण देते हैं –

एक समये चो भयानवधारणम् ।।२०।।

चित्तको यदि स्वाभास और विषयाभासरूप माना जाय । तब स्वरूपका और विषयका अवधारण एकक्षणमें मानना होगा, किन्तु वह होता नहीं । जिस व्यापारसे चित्तरूपका अवधारण उसी व्यापारसे विषयका भी अवधारण होता नहीं । विषयभासरूप चित्तका स्वाभास नहीं माना जा सकता अनुभवका विरोधी होने से । क्षणिकवादीका चित्तक्षणस्थायी, उनके न्यायमें भी कारकक्रिया-भुतिरूप ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय एकक्षणभावी सुतरां एकक्षणमें ही तीनों ज्ञान हो जायगा, वह अनुभवविरुद्ध सुतरां अनास्थेय। सुतरां चित्तका दृश्यत्व-सदातनत्व-स्वाभासत्वका अपनयन करता हुआ द्रष्टाका अपरिणामित्व सिद्ध हुआ ।।२०।।

चित्त दृश्य होने पर अपने को ग्रहण न करें, अन्य चित्त द्वारा ग्रहण हो जाय, स्वसन्तानवर्त्ती चरमचित्त से स्वधारा निरुद्ध स्वजनक चित्तग्रहण होने से आत्मा का पृथक् रूप से सिद्ध नहीं होता, ऐसा कह नहीं सकते –

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ।। २१।।

बुद्धि-चित्त, पूर्वचित्त उत्तर उत्तर चित्तद्वारा गृहीत हो जाय, तो चरम चित्त का ग्राहक कौन होगा ? यदि कहें, वह भी दूसरे से, वह भी दूसरे से तो अनवस्था होगी।

यदि कहे सब चित्तों का ग्रहण करना पड़ेगा, ऐसा नियम नहीं है, इसलिए अनवस्था नहीं होगी; नहीं, उससे ज्ञानगोचर अनन्त ज्ञानवृत्तिकी कल्पनारूप गौरव अपरिहार्य हो जायगा, हमारे मत में एक विभुचित्त को समस्त वृत्तिगोचर मान लेने से कोई दोष नहीं आता और भी रूप रसादि विषय अनुभव काल में तद्विषयक अनन्त ज्ञानधारा उत्पन्न होती है, इस प्रकार विषय स्मृतिकाल में भी ज्ञान जनित संस्कारों से बहुत स्मृतिओं की युगपत् उत्पत्ति होने पर, यह किस विषय की स्मृति है – जान नहीं सकने से किसी भी स्मृति का निर्धारण नहीं होगा, निश्चय के अभाव से स्मृति संकर उत्पन्न हो जायेगा ॥ २१॥

यदि चित्त स्वाभास भी नहीं, चित्तान्तर से वेद्य भी नहीं, तो वह कैसे अपने को भोग्यरूप बना लेती है । स्वयंप्रकाश आत्मा व्यापक होने से कोई क्रिया भी नहीं हो सकती, क्रिया हुए बिना कर्त्ता कैसे, असंबद्ध चित्त कर्म के बिना भोक्ता कैसे, इस प्रकार आंशिका होने से कहते हैं –

चितेरप्रतिसंक्रमायातस्यादाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।। २२।।

चैतन्यकी बुद्धिमें अनुपाति होने से न कि प्रतिसंचारसे तदाकार प्राप्त होने पर 'अस्मि इति बुद्धिका प्रतिसंवेदन होता है । जैसे कि चन्द्रमामें क्रियाके बिना भी जब अमल अचल सलितलमें प्रतिबिम्ब पड़ता है तब चन्द्रमा सचल जेसा अवभासित होता है । इसी प्रकारसे चितिमें क्रियाके बिना भी चित्तमें जब चितिका प्रतिबिम्ब उपसंक्रान्त हो जाता है, तब चित्त अपनी क्रियासे क्रियावती होकर असंगको भी संगत करके चेतनाशक्तिको अवभासित करता हुआ भोग्यभावको प्रदान करके आत्माको भोक्तारूप प्रदान करती है । जिस महान् गुहामें निहित गह्वरेष्ठ शाश्वत ब्रह्म विशुद्ध स्वभावके होता हुआ भी चितिछायापन्ना मनोवृत्तिको ही चितिछायापन्न होने से चितिको भी अविशिष्टरूप से गुहा कहा गया है । वह गुहा न गिरिका विवर, न पाताल, न समुद्रों की कुक्षि किन्तु चित्त के जैसे प्रतीयमान बुद्धिवृत्ति ही ॥ २२॥

इस प्रकार चित्त को दृश्यरूप से परिणामी और पुरुष को उससे अतिरिक्त अपरिणामी धर्म वाला दिखाये गये, अभी लोक प्रत्यक्ष द्वारा भी उसको प्रमाण करते हैं—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।। २३।।

मन ही मन्तव्य विषयके साथ उपरक्त और अपने भी विषयरूप होने से विषयी पुरुषद्वारा आत्मीय वृत्तिसे अभिसंबन्ध होता है, वही चित्तष्टृ- दृश्योपरक्त–विषयविषयीनिर्भास होता हुआ चेतनाचेतन स्वरूपात्र होकर, विषयात्मक होता हुआ अविषयात्म जैसी, अचेतन होता हुआ भी चेतन जैसा स्फ़टिक मणिके जैसा सर्वार्थ कहा जाता है । इस प्रकार चित्तसा रूपसे कोई भ्रान्त चित्त वाले चित्तको ही चेतन मानते हैं और कोई तो

सर्वजगत्प्रपंचको चित्तमात्र मानते हैं । गौ घटादि कोई वस्तु नहीं है । उनको तो भगवान दया करें । उस भ्रान्तिका बीज भी देखा जाता है—वे कहते हैं—सर्वरूपाकार चित्त ही है । समाधि प्रज्ञामें प्रज्ञेय अर्थ तस्य प्रतिबिम्बभूत और उसका आलम्बनीभूतसे अन्य, वह यदि अर्थ और चित्तमात्र हो किसी प्रज्ञा द्वारा ही प्रज्ञाका अवधारण करेगा ? सुतरां प्रतिविम्बीभूत प्रज्ञामें जो अवधारण करता है, वही पुरुष है, इस प्रकार ग्रहीतग्रहण और ग्राह्यस्वरूप चित्तके भेदसे तीन होते हैं । यह तो प्रज्ञावान् सम्यग्दर्शी लोग ही जान सकते हैं ॥ २३॥

इस प्रकार चित्त से ही सर्वव्यवहार सम्पन्न हो जाय तो प्रमाणशून्य द्रष्टा को मानने की क्या आवश्यकता है ? उस पर कहते हैं –

तदसंख्येय वासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।। २४।।

चित्त असंख्य वासना द्वारा नानारूप होने पर भी परार्थ-भोक्ता स्वामी का भोग और अपवर्ग का साधन करता है, क्यों ? संहत्यकारी होने से अर्थात् सब मिलकर अर्थक्रियाकारी है । जो कि संहत्यकारी होता है वह परार्थ होता है, जैसे गृहादि । पुरुषद्वारा उपरक्त चित्त द्रष्टा का प्रतिबिम्बयुक्त चिच्छायी प्राप्त होने पर द्रष्टा को भी प्रत्यक्ष करता है, दृश्य विषय का भी, विषय में संक्रान्त नीलादि वस्तु का भी प्रत्यक्ष करता है । इस प्रकार से तीन आकार प्राप्त चित्त सब ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य वस्तुयें पुरुष के भोग के निमित्त होता है । चित्त ही चिन्तनीय वस्तुओं के साथ उपरक्त होने पर चेतन द्वारा सम्बद्ध विषयद्वारा स्वीय चैतन्यलक्षण वृत्तिविशिष्ट द्वारा अपने को भी विषय करता है । वही द्रष्टृदृश्योपरक्त शब्दादि विषयरूपसे विषयी पुरुष के रूप से भी निर्भासित होता है। सुतरां विषयात्मक होता हुआ भी अविषयात्मक जैसे, अचेतन होता हुआ भी अविषयात्मक जैसे, अचेतन होता हुआ भी चेतन जैसे होता है । इसका तात्पर्य यह है कि, यद्यपि चित्त में ही सवाह्य वस्तुओं के चित्र पड़ते हैं, और वह अगणित वासना से रंगा हुआ है फिर भी वह स्वयं प्रकाश द्रष्टारूप नहीं है । क्योंकि वह वाह्यवस्तु और इन्द्रियों से मिलजुल कर काम करने वाला होता है । सुतरां संहत्यकारी होने से दूसरे के लिए है ॥ २४॥

चित्तसे पुरुषकी अन्यता स्थापन करके अब कैवल्य भागीय चित्त का विवरण दस सूत्रों में दे रहे हैं –

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावना विनिवृत्तिः ।। २५।।

जिसके आत्मभावमें भावना है उसको अष्टाङ्गयोगका उपदेश होने पर अनुष्ठित करने वाले युञ्जानयोगीका उसका परिपाकसे चित्तसत्त्व और पुरुषका विशेष दर्शनसे

आत्मभावकी भावना निवृत्ति हो जाता है। जिसकी आत्मभावना नहीं, ऐसे नास्तिक उपदेशके अनधिकारी होने से अपरिनिश्चित आत्मभावना, न परलोकभावका उपदेश, न विशेषदर्शन, न आत्मभावभावनाकी निवृत्ति। चित्तवर्ति आत्मभावभावनाको कैसे जाना जा सकता ? प्रागभवीय तत्त्वदर्शन वीजरूप अपवर्गभागीय जो अष्टांग योगानुष्ठानरूप कर्म अथवा उसके एकदेश अनुष्ठान का तदभिनिवर्तितरूप से अनुमान किया जाता है, उसकी आत्मभावभावना अवश्य ही स्वाभाविक है, वस्तुके अभ्यासके बिना ही प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु जिसको विवेकज्ञान द्वारा भली-भाँति आ गया कि शरीर चित्त आदि से आत्मा सम्पूर्ण भिन्न है। जिसे अपना स्वरूपका संशयरहित अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया है। उसकी उपर्युक्त आत्मभावभावना आपने आप मिट जाती है। यही उसका पहचान है ॥ २५॥ उस समय योगी की चित्तदशाको बताते हैं –

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।। २६।।

अज्ञानदशा में साधारण मनुष्य का चित्त अज्ञान में निमग्न होकर विषय परायण अर्थात् विषयमुख रहता है। परन्तु जिसका विवेकज्ञान का उदय हो जाता है उस समय कैवल्यपर्यन्तगामिनी विवेकमार्ग में, निम्नमार्गमें गमनकारी जलके जैसे निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, और कैवल्याभिमुख बना रहता सांसारिक विषय के तरफ झाँकता नहीं। इस प्रकार से चित्त आपने कारण में लीन होने लगता है। कारण में लीन होना और अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना एक ही बात है ॥ २६॥

विवेकदर्शनकी उत्पत्तिमात्रसे ही कृतकृत्यता नहीं होती क्योंकि पूर्व संस्कारवशात् बीच-बीचमें मोहात्मक भवदुःखबीजरूप वृत्तियों की अनुवृत्ति देखी जाती उसको कहते हैं–

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।। २७।।

सत्त्वपुरुष अन्यताख्यातिमात्र प्रवही चित्तका विवेक निम्न प्रत्यय में बहता रहता है परन्तु उसके अन्तरालमें भिक्षाटनादिरूप व्युत्थानावस्था देखने आती है। यह कैसी है? अविद्यारूप अस्मित प्रत्ययका आकार देखा जाता है, क्योंकि सम्प्रज्ञातयोगमें भी वह देखा जाता है, इस कारण पूर्व संस्कारों से उत्पन्न होता है, यह बीजक्षीयमाण न कि क्षयप्राप्त ॥ २७॥

व्युत्थान संस्कारों के नाश का साधन क्या हैं ? जिससे वह फिर प्रत्ययान्तर का प्रसव न करें। इस जिज्ञासा पर कहते हैं –

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।। २८।।

व्युत्थानसंस्कारों का नाश, जैसा कराण में कार्य का लयरूप से क्लेशों का नाश बताये गये हैं ('ध्यान हेयास्तद्वृत्तय' 'ते प्रतिप्रसव हेयाः सूक्ष्माः') इन दो सूत्र से स्थूल-

सूक्ष्म-क्लेशों का तत्त्वज्ञान और चित्तलय द्वारा बताये गये, वैसे पूर्व संस्कारोंका भी सम्प्रज्ञात परम्परा जनित तत्त्वज्ञानाग्नि द्वारा दग्धबीज तुल्य होने से और नवीन प्रत्यय का प्रसव नहीं करते ॥ २८॥

इस प्रकार व्युत्थान संस्कार का निरोध उपाय को कहकर तत्त्वज्ञान निरोध का उपायभूता विवेकख्याति प्रदर्शन करता हुआ समाधि फल को दिखाते हैं –

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।। २९।।

प्रसंख्याने— विवेकसिद्धि में भी जो अकुसीद–विरक्त, ऐसा रागरहित विरक्त का अर्थात् सर्वथा वाह्य संचारहीन होने से विवेकख्यातिरूप जो समाधि जिसको धर्ममेघसमाधि अर्थात् परमपुरुषार्थ साधक अशुक्लकृष्णरूप प्रकृष्टधर्म को जो मेहनत करता है- सिञ्चन करता है; वह धर्ममेघ कहलाता है । वर्षालब्ध वारि जैसा अप्रयत्नलब्ध होता है, वैसा ही धर्ममेघ से अप्रयत्नलभ्य कैवल्य प्राप्त हो जाता है । – श्रुति भी कहती है–

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पुथक् पश्यन् तानेवानुविधावति ॥
यथोदकं शुद्धेशुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुने विजानत आत्मा भवति गौतम ॥

यथा दुर्गम पर्वत शिखर में वर्षा होने पर जल पर्वतगात्र में विधावित होता है वैसे ही बुद्धि धर्मों को पुरुष से पृथक् देखता हुआ उसी का अनुधावन करता है । बुद्धिशिखर में विवेकाम्बुवृष्टिजात विवेकौघरूप बुद्धिधर्म को आप्लावित करता है । यथा शुद्ध प्रसन्न उदक में वृष्टिका उदक शुद्धोदक रूप हो जाता है । इसी प्रकार विवेक विज्ञान से योगी का अन्तरात्मा शुद्ध विवेकख्याति परिशुद्ध हो जाता है—विवेकमात्र समाधि से ॥ २९॥

धर्ममेघ समाधिका फल बता रहे हैं –

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।। ३०।।

ततः—धर्ममेघ लाभ के अनन्तर अविद्यास्मितादि क्लेशों का समूल नाश हो जाता है, क्लेशों का नाशसे उसका मूल त्रिविध शुक्लादि कर्माशयका नाश, क्लेश और कर्म का नाशसे जीवन्मुक्ति होती है । यदि कहें—दुःख का अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष, जीवित का तो अवश्य ही दुःखप्राप्ति, श्रुति भी कहती है—"न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति"—सशरीरका प्रिय अप्रियसे छुटकारा नहीं मिलती, तो जीवन्मुक्ति कैसे सम्भव ? दुःखों का अत्यन्तनिवृत्ति ही परममुक्ति है जीवन्मुक्ति तो दुःख निदानों के अत्यन्त उच्छेदात्मिका, इसलिए वह गौणीभूता, सुतरां जीवन्मुक्ति परमामुक्ति का द्वारभूता है ॥ ३०॥

धर्ममेघ प्राप्त होने के बाद जीवन्मुक्तका परमामुक्ति प्रकारको कथन कर रहे हैं–

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्यम् ।। ३१।।

तदा सर्वआवरण रूप मूल विदूरीत ज्ञान का आनन्त्य होता है, उससे ज्ञेय अल्प रहता है। प्रकाश स्वभाव चित्तसत्त्व किसी प्रकार बाधक न रहने से सर्व पदार्थों को प्रकाश करता है। आवरणशील चित्त तमरज द्वारा-स्वाभाविक क्रिया द्वारा अपसारित होकर सत्त्व का प्रकाश जब निरावरण हो जाता है तब ज्ञान होता है, अतः सत्त्व का मलरूप तम का चले जाने से रजो का भी कार्याभाव से अल्पीभाव होने पर सत्त्व निवारण होकर सब कुछ प्रकाश करता है– यही ज्ञानका आनन्त्य है। इस प्रकार परमज्ञान लाभ से पुनर्जन्म असम्भव है। इस विषय में आभाणक—

"अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलीरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चन्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥"

अन्ध मणिको छिद्र किया, अंगुलीहीन मणिओं को ग्रथित किया, ग्रीवाहीन कण्ठ में धारण किया, और जिह्वाहीन उनका स्तुतिगान किया, इस प्रकार क्रिया जैसा असम्भव वैसे ही विवेकी का जन्म भी असम्भव है ॥ ३२॥

यथोक्त सार्वज्ञ से परवैराग्यका उदय द्वारा असम्प्रज्ञात परम्पराजन्य अथवा प्रारब्धभोग की समाप्ति जन्य तृतीय मुख्यमोक्ष कहते हैं –

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।। ३२।।

धर्ममेघोदयसे क्लेश कर्मनिवृत्ति द्वारा ज्ञानका आनन्त्य हो जाने पर परवैराग्यसे पुरुषार्थ समाप्ति द्वारा कृतार्थ पुरुषके प्रति सत्त्वादि गुणों का परिणाम क्रम समाप्त करते हैं, कृतार्थ पुरुषों का भोगका उपायरूप परिणाम पुनः नहीं होता। क्रम-अविरलधारा, आगे कहेंगे। अर्थात् कृतार्थ पुरुषरूप स्वामी सम्बन्धी गुणों का परिणाम क्रम समाप्त करते हैं। न ही सत्त्वादिगुण- समूहकृत भोगापवर्ग अतएव समाप्तक्रम उस पुरुष प्रतिक्षण अवस्थान करने में समर्थ नहीं, स्थिति हेतु पुरुषार्थ न रहने से, इस तृतीया मुक्तिके विषय में पंचशिखाचार्य ने कहा – "कर्मक्षयात् तृतीयं व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्' कर्मक्षय से तृतीय मोक्षलक्षण व्याख्यात हुआ। अतएव तत्त्वसामसूत्र "त्रिविधो मोक्षः" यहाँ जान लेना चाहिए। इन दो सूत्रों से ज्ञान का आनन्त्य से सार्वज्ञ्यता से मोक्ष कहा, यह मुख्यकल्पाभिप्राय से कहा है, क्योंकि वैराग्यसे ही सरलता सुखसे मोक्ष की सिद्धि हो सकती। इसका तात्पर्य यह नहीं कि सार्वज्ञ्य से मोक्ष नहीं होता। जिसलिए "सत्त्व और पुरुषका शुद्धिसाम्यसे कैवल्यम्"। इस सूत्रमें भाष्यकार ने भी कहा – 'ईश्वर हो या अनीश्वर हो विवेकज्ञान प्राप्त हो या न प्राप्त हो इससे सर्वज्ञका भी अभिमान निवृत्तिमात्र सेही मोक्ष" और भी कहा– "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय" "सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा" इति। संसारका बीज अनात्मामें आत्मख्यातिरूप अविद्या रागद्वेष

धर्माधर्मतद्विपाकादि हेतु होने से विवेकख्याति द्वारा नाश प्राप्त हुआ । सुतरां उससे ही संसारका उच्छेद हो जाने पर सार्वज्ञ्यादिकी अपेक्षा नहीं है ॥ ३२॥
क्रमका स्वरूप निरूपण कर रहे हैं –

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिग्राह्यः क्रमः ॥ ३३॥

क्षण प्रतियोगी—क्षणों का सत्प्रतिपक्ष, अर्थात् क्षणावसरव्यापी । प्रत्येक क्षण प्रतियोगी परिणामका अविरल प्रवाह ही क्रम है । क्रम अपरान्त निर्गाह्य है । नव वस्त्र की पुराणता अपरान्तरूप से उस वास्त्र परिणाम क्रमको ग्राह्य और गुणवृत्तिओं का—बुद्ध्यादि परिणाम क्रम का अपरान्त बुद्धि का प्रतिप्रसव, अप्रतिप्रसव बुद्ध्यादि का परिणाम क्रम निर्ग्राह्य रहता है । क्षणव्यापी परिणामों का नैरन्तर्य ही क्रमशब्दवाच्य है । जिस क्षणों से क्रमका बन्धन ही हुआ ऐसे क्षणों जिसका निवर्तक ऐसा अननुभूत क्रम क्षणों की पुराणता नहीं है, क्रमतः परिणामरूप अनुभव से ही पुराणता होती है । अपरान्त तो किसी का विवक्षित अवस्थाका अपरान्त कहा जाता है । यथा—नवता की पुराणता; व्यक्त की अव्यक्तता इत्यादि, उसमें अनित्य भावरूपों का प्रतिप्रसवरूप अपरान्त होता है, जहाँ क्रमलब्ध पर्यवसानरूप है । ऐसा नित्यों का नहीं होता, नित्य भावरूप वस्तुओं का कोई विशेष अवस्था की अपेक्षा से ही परिणाम अपरान्त कहना चाहिए; नित्य पदार्थ का भी परिणामक्रम होता है । प्रकृत हो या काल्पनिक हो क्रम सबका होता है । कूटस्थनित्यता – निर्विकारनित्यता और परिणामनित्यता–नित्यविक्रियमाणता । विकारस्वभाव वाला निष्कारण गुणों का परिणामनित्यता । कूटस्थ पदार्थ समूह भी था, है– होगा ऐसा कहना चाहिए । सुतरां उसका भी परिणाम कहना चाहिए, किन्तु वस परिणाम वैकल्पिक है । अतएव यह ठीक ही कहा—नित्यतालक्षण जो जिसमें परिणम्यमान होने पर स्वभाव अन्यथा नहीं होता वह नित्य माना जाता है । गुणका पुरुषका उभयका तत्त्वका अव्यभिचारसे नित्यता सिद्ध होती है । उसमें गुण धर्म बुद्ध्यादि में परिणामापरान्तनिर्गाह्य क्रमलब्ध पर्यवसान होता है । नित्यधर्मी गुणों में अलब्धपर्यवसान अर्थात् प्रकाश क्रिया स्थिति स्वभाव वालों का नित्य होने से कूटस्थनित्यता है । अनन्तकाल यावत् रहेगा कहने से असंख्यक्षण क्रम से स्थिति क्रियारूप परिणाम व्युत्थितदर्शन द्वारा मन्तव्य होते हैं और भी शब्दानुपाति विकल्पज्ञान से "अस्ति" शब्दानुपाति विकल्प से अस्ति क्रिया को ग्रहण करके उस क्रियावान् पुरुष होता है, वहाँ परिणाम विकल्पित होता है । इस प्रकार वाङ्मात्र विकल्पित परिणामसे पुरुषका कौटस्थ्य की हानि नहीं होती । लीयमान और उद्भव्यमान संसार का तत्तदवस्थ गुणों में वर्तमान क्रम समाप्ति होगा कि नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर अवचनीय है । क्यों ? यह प्रश्न एकान्तवचनीय–सबके सब जात अवश्य मरेगा । मरकर पुनः जन्म लेगा । इस

प्रकार विभाग करके कहना चाहिए–जिसकी ख्यातिका उदय हो गया है ऐसे क्षीणतृष्ण कुशल जनम नहीं लेगा; अतिरिक्त सब जन्म लेगा। देहधारी असंख्य होने से संसार का अन्तवत्ता है कि नहीं रूप प्रश्न अन्याय प्रयुक्त है, क्योंकि असंख्य क्षणात्मक काल का अथवा अपरिमेय देश का "अस्ति न वा" प्रश्न अन्याय होने से अवचनीय है, उसी प्रकार असंख्य संसारी की नि:शेषता की कल्पना और तद्विषय प्रश्न अन्याय है। असंख्य पदार्थसे असंख्यके वियोग होने पर सदा ही असंख्य बना रहेगा। इस श्रुति स्मृति प्रमाण है–

"पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्वामेवावशिष्यते।"

पूर्ण से पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही अवशेष रहते हैं –

अत एवाहि विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा।
ब्रह्माण्ड जीवलोकानामनन्तत्वाद शून्यता।

विद्वान् लोग सर्वदा मुक्त होते जावें फिर भी ब्रह्माण्ड और जीव समूह अनन्त होने के कारण संसार कभी शून्य नहीं होगा ॥३३॥

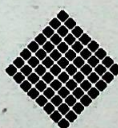
अब फलस्वरूप कैवल्यका असाधारणस्वरूपका कथन करते हैं –

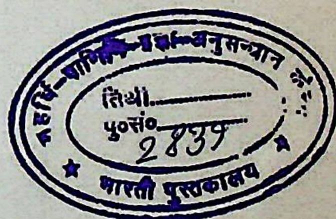
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।।३४।।

गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग सम्पादन के लिए ही होता है। इसी काम को पूरा करने के लिए वे बुद्धि अहंकार से लेकर शब्दादि विषयों के आकार में परिणत होते हैं। जिस पुरुष के लिए वे गुण भोग भुगताकर अपवर्ग सम्पादन कर देते हैं, उसके लिए उनका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, तब वे अपने प्रयोजन को पूराकर चुकने वाले कार्य और कारणरूपमें विभक्त हुए गुण प्रतिलोभ परिणाम को प्राप्त होकर अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यही गुणों का कैवल्य अर्थात् पुरुष से अलग हो जाना है। अथवा चितिशक्ति वृत्तिसारूप्य के निवृत्ति हो जाने पर स्वरूपमात्र में अवस्थान को कैवल्य कहते हैं। यही पुरुष का कैवल्य है, प्रकृतिसे सर्वथा अलग हो जाना। सवदर्शनों में आत्माका अधिष्ठातृत्वको छोड़कर अन्यरूप उपपन्न नहीं होते हैं। अधिष्ठातृत्व भी चिद्रूप है, वह भी जड़ से विलक्षण ही है। चिद्रूप से जो अधिष्ठित होते हैं वही भोग्यता को प्राप्त कराता है। जो कि चेतनाधिष्ठित होता है वह सकल व्यापार योग्य होता है। इस प्रकार होने पर प्रधानका कृत्य हो जाने पर व्यापारकी निवृत्ति से आत्मा का कैवल हमने कहा उसको छोड़कर अन्यान्य दर्शनों की भी कोई गति नहीं है। सुतरां यही युक्तियुक्त है कि वृत्तिसारूप्य परिहार द्वारा स्वरूपमें प्रतिष्ठा चितिशक्तिका

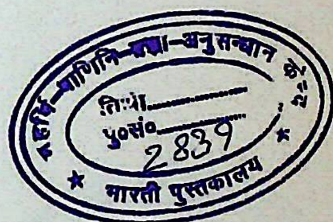
कैवल्य है । इस प्रकार सिद्ध्यन्तरों से विलक्षणासर्वसिद्धिमूलभूता समाधि सिद्धि को कथन कर जात्यन्तर परिणाम लक्षण की भी सिद्धि विशेष का प्रकृति द्वारा आपूरण ही कारण इस प्रकार उपपादन करके धर्मादिका प्रतिबन्धक निवृत्तिमात्रमें भी सामर्थ्य दिखाकर निर्माण चित्त समूहक अस्मितामात्र से उद्भव कहकर उनका भी योगी चित्त में ही अधिष्ठापकता दिखाकर, योगी चित्त का चित्तान्तर से विलक्षणता कथन कर उनका कर्म का अलौकिकत्व उपपादन-प्रतिपादन करके विपाकानुगुण वासनाओं की अभिव्यक्ति सामर्थ्य और कार्यकारण का भी ऐक्य प्रतिपादन द्वारा व्यवहित वासनाओं का भी आनन्तर्य उपपादन करके उनके आनन्त्य होने पर भी हेतु फलादि द्वारा हान को दिखाकर अतीतादि अध्व में धर्मसमूह का सद्भाव उपपादन करके विज्ञानवाद का निराकरण करके साकारवाद की प्रतिष्ठा करके पुरुषका ज्ञातृत्व कहकर चित्तद्वारा सकल व्यवहार निष्पत्ति उपपादन करके पुरुषसत्ता में प्रमाण दिखाकर कैवल्य निर्णय के निमित्त दससूत्र में क्रम से उपयोगी अर्थ का कथन कर शास्त्रान्तर में भी इस कैाल्य का ही उपपादन करके कैवल्यस्वरूपका निर्णय किया गया है।। ॐ तत्सत् ॐ ।।३४।।

इति श्रीपातञ्जलयोगशास्त्रमें सच्चितीर्थ
विरचित रहस्यचन्द्रिकामें चतुर्थ कैवल्यपाद ।।
।। समाप्तोऽयं ग्रथः ।।








अनुसन्धान
पु०सं० 2839
भारती पुस्तकालय




भारती पुस्तकालय

श्री श्री निगमानन्द विद्यानिकेतन से प्रकाशित तथा उपलब्ध अनुपम ग्रन्थावली

1.	योगी गुरु	स्वामी श्री निगमानन्द सरस्वती	40.00
2.	ज्ञानी गुरु	स्वामी श्री निगमानन्द सरस्वती	50.00
3.	प्रेमिक गुरु	स्वामी श्री निगमानन्द सरस्वती	50.00
4.	तान्त्रिक गुरु	स्वामी श्री निगमानन्द सरस्वती	30.00
5.	ब्रह्मचर्य साधन	स्वामी श्री निगमानन्द सरस्वती	20.00
6.	माँ की कृपा	सम्पादक कुमार चिदानन्द	12.00
7.	महायोगी	सद्गुरु निगमानन्द (जीवन चरित)	20.00
8.	स्तोत्रमाला	शिवमहिम्नः सहित स्तोत्रों का संग्रह	12.00
9.	श्रीमद् भागवत् पारिजात	स्वामी श्री भागवतानन्द सरस्वती	40.00
10.	वेदान्तरहस्यचिन्तामणि	स्वामी श्री सच्चितीर्थ	40.00

प्राप्ति स्थान

श्री श्री निगमानन्द विद्या निकेतन

बी 2/160. सी 1-बी, भदैनी, वाराणसी

उ. प्र. 221001